

सुख क्या है ?

यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। न केवल चाहते हैं, अपितु तदर्थ प्रयत्न भी करते हैं। सुबह से शाम तक हम सब जो कुछ भी करते हैं, उसके पीछे एकमात्र यही उद्देश्य रहता है कि हमारा दुःख दूर हो और हम सुखी हो जाँय। प्रातः उठते ही हम शौचालय जाते हैं और यदि पेट खाली हो जाय तो बहुत प्रसन्न होते हैं; पर तत्काल ही खाली पेट भरने के लिए डायनिंग टेबल पर जा बैठते हैं।

समझ में ही नहीं आता कि खाली पेट में सुख है या भरे पेट में? यदि पेट खाली हो तो उसे भरने की पड़ती है और भरा हो तो खाली करने को आतुर हो जाते हैं। अधिक क्या कहें ? हम आसन भी बदलते हैं तो सुखी होने के लिए ही बदलते हैं। ये छोटे-छोटे काम भी जीव दुःख दूर करने के लिए ही करता है, सुखी होने के लिए करता है; पर दुःख दूर नहीं होता, सुख प्राप्त नहीं होता।

वस्तुतः बात यह है कि हम यह भी तो नहीं समझते कि वास्तविक सुख है क्या ? वस्तुतः सुख कहते किसे हैं ?

सुख का वास्तविक स्वरूप समझे बिना मात्र सुख चाहने का कोई अर्थ नहीं होता।

प्रायः सामान्यजन भोग-सामग्री को सुख-सामग्री मानते हैं और उसकी प्राप्ति को ही सुख की प्राप्ति समझते हैं; अतः उनका प्रयत्न भी उसी ओर रहता है। उनकी दृष्टि में सुख कैसे प्राप्त किया जाय का अर्थ होता है 'भोग-सामग्री कैसे प्राप्त की जावे?' उनके हृदय में 'सुख क्या है ?' इस तरह का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि उनका अंतर्मन यह माने

बैठा है कि भोगमय जीवन ही सुखमय जीवन है। भोग सामग्री की उपलब्धि और उसका उपभोग ही सुख है और इनकी अनुपलब्धि ही दुःख है।

इसकारण वे भोगसामग्री जोड़ने में जी-जान से जुटे रहते हैं। यहाँ तक कि जिस उपभोग के लिए यह सबकुछ किया जा रहा है; उसके लिए भी उनके पास समय नहीं है। न खाने-पीने का ठिकाना और न आराम करने के लिए समय। बस पैसा, पैसा और पैसा। पैसा ही सबकुछ हो गया है; क्योंकि आज भोग सामग्री प्राप्त करने का एकमात्र साधन वही है न ?

सोचने की बात यह है कि यह भोग सामग्री सुख की निशानी है या दुःख की ? एक व्यक्ति कहता है कि मैं कभी बीमार नहीं पड़ता; क्योंकि दवाइयों का एक बॉक्स और दो डॉक्टर सदा मेरे साथ रहते हैं। अरे भाई ! ये डॉक्टर और दवाइयों के बॉक्स का सदा साथ रहना सदा बीमार रहने की निशानी है या कभी बीमार न पड़ने की ?

वास्तविक स्थिति तो यह है कि जब दाँत थे, तब चना उपलब्ध नहीं थे और जब चना उपलब्ध हुए, तबतक दाँत गायब हो चुके थे। जब पत्थर को भी पचा जाने की शक्ति थी, तब रुखा-सूखा भोजन भी उपलब्ध नहीं था। अब जब ऐसी स्थिति हो गई कि चाहे तो दिनभर घी में डूबे रह सकते हैं, सभी कुछ उपलब्ध है तो मूँग की दाल के पानी पर जीवन चल रहा है। न घी, न नमक, न चीनी – सभी कुछ बन्द है; क्योंकि मधुमेह, रक्तचाप और हृदयरोग सभी कुछ तो हो गया है। इसप्रकार अब तो इच्छानुसार घूमना-फिरना, खाना-पीना, मौजमस्ती करना – सभी कुछ बंद हो गया है।

फिर भी जब-जब सुख-समृद्धि की चर्चा आती है तो यही कहा जाता है कि प्रेम से रहो, मेहनत करो, अधिक अन्न उपजाओ, औद्योगिक

और वैज्ञानिक उन्नति करो – इससे देश में समृद्धि आवेगी और सभी सुखी हो जावेंगे। आदर्शमय बातें कही जाती हैं कि एक दिन वह होगा जब प्रत्येक मानव के पास खाने के लिए पौष्टिक भोजन, पहिने के लिए ऋतुओं के अनुकूल उत्तम वस्त्र और रहने के लिए वैज्ञानिक सुविधाओं से युक्त आधुनिक बंगला होगा; तब सभी सुखी हो जावेंगे।

हम इस पर बहस नहीं करना चाहते हैं कि यह सबकुछ होगा या नहीं; पर हमारा प्रश्न तो यह है कि यह सबकुछ हो जाने पर भी क्या जीवन सुखी हो जावेगा ? यदि हाँ, तो जिनके पास यह सबकुछ है; वे तो आज भी सुखी होंगे ? या जो देश इस समृद्धि की सीमा को छू रहे हैं; वहाँ तो सभी सुखी और शान्त होंगे ? पर देखा यह जा रहा है कि वे सभी भी आकुल-व्याकुल और अशान्त हैं, भयाकुल और चिन्तातुर हैं।

अरे भाई ! सबकुछ स्वयं पर घटित करके ही नहीं देखा जाता, कुछ बातें दूसरों को देखकर भी सीख लेना चाहिए। क्या आप कालकूट जहर को भी चखकर देखते हैं, उसकी मारक क्षमता को परखने के लिए उसे खाते हैं ?

नहीं, तो फिर अधिकाधिक भोग सामग्री की उपलब्धि से हम सुखी होंगे या नहीं ? – इस बात का निर्णय भी भोगसामग्री के ढेर पर बैठे लोगों को देखकर ही कर लेना चाहिए; क्योंकि इसकी कोई गारंटी नहीं है कि हम इस जीवन में उतनी भोग सामग्री जोड़ ही लेंगे, जितनी जुड़ जाने पर हम सुखी होने की कल्पना करते हैं।

इसप्रकार इस भव में तो हम यह भी न जान सकेंगे कि भोग-सामग्री में सुख है या नहीं ?

मानव और पशुओं में मात्र इतना ही तो अन्तर है कि पशुओं को अपने पूर्वजों से कुछ भी सीखने को नहीं मिलता, पर मनुष्यों के पास पूर्वजों के अनुभव का भंडार उपलब्ध है। यदि हम सबकुछ अपने पर

घटित करके ही देखेंगे तो फिर हममें और पशुओं में क्या अन्तर रह जायेगा ? इसलिए हमें उन महापुरुषों के जीवन से भी कुछ सीख लेना चाहिए कि जिन्होंने चक्रवर्ती की संपदा प्राप्त करके भी सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए उसे तृणवत् त्याग दिया था। भारतीय पुराण साहित्य इसप्रकार के अनेक उदाहरणों से भरे पड़े हैं।

उक्त उदाहरणों पर गंभीरता से विचार करने पर हमें इस निर्णय पर पहुँचने में देर नहीं लगेगी कि भोग सामग्री की उपलब्धि और उसके उपभोग में वास्तविक सुख नहीं है।

‘सुख क्या है ?’ इस विषय पर गंभीरता से सोचा जाना चाहिए। ‘वास्तविक सुख क्या है और वह कहाँ है ?’ इसका निर्णय किये बिना इस दिशा में सच्चा पुरुषार्थ नहीं किया जा सकता और न ही सच्चा सुख प्राप्त किया जा सकता है।

कुछ मनीषी इससे आगे बढ़ते हैं और कहते हैं –

“भाई, वस्तु (भोग-सामग्री) में सुख नहीं है, सुख-दुःख तो कल्पना में है। वे अपनी बात सिद्ध करने के लिये उदाहरण भी देते हैं कि एक आदमी का मकान दो मंजिल का है, पर उसके दाहिनी ओर पाँच मंजिला मकान है तथा बायीं ओर एक झोपड़ी है। जब वह दायीं ओर देखता है तो अपने को दुखी अनुभव करता है और जब बायीं ओर देखता है तो सुखी; अतः सुख-दुख भोग-सामग्री में न होकर कल्पना में है।”

वे मनीषी सलाह देते हैं कि “यदि सुखी होना है तो अपने से कम भोग-सामग्री वालों की ओर देखो, सुखी हो जाओगे। यदि तुम्हारी दृष्टि अपने से अधिक वैभव वालों की ओर रही तो सदा दुःख का अनुभव करोगे।”

सुख तो कल्पना में है, सुख पाना हो तो झोंपड़ी की तरफ देखो, अपने से दीन-हीन की तरफ देखो, यह कहना असंगत है; क्योंकि दुखियों

को देखकर तो लौकिक सज्जन भी दयार्द्र हो जाते हैं। दुखियों को देखकर ऐसी कल्पना करके अपने को सुखी मानना कि मैं उनसे अच्छा हूँ, उनके दुःख के प्रति अकरुण भाव तो है ही, साथ ही मान कषाय की पुष्टि में संतुष्टि की स्थिति भी है। इसे सुख कभी नहीं कहा जा सकता।

सुख क्या झोंपड़ी में भरा है जो उसकी ओर देखने से आ जावेगा ? जहाँ सुख है, जबतक उसकी ओर दृष्टि नहीं जावेगी, तबतक सच्चा सुख प्राप्त नहीं होगा।

सुखी होने का यह उपाय भी सही नहीं है; क्योंकि यहाँ ‘सुख क्या है ?’ इसे समझने का प्रयत्न ही नहीं किया गया है, वरन् भोगजनित सुख को ही सुख मानकर सोचा गया है। ‘सुख कहाँ है?’ का उत्तर ‘कल्पना में है’ दिया गया है। ‘सुख कल्पना में है’ का अर्थ यदि यह लिया जाय कि सुख काल्पनिक है, वास्तविक नहीं – तो क्या यह माना जाय कि सुख की वास्तविक सत्ता है ही नहीं; पर यह बात संभवतः आपको भी स्वीकृत नहीं होगी। अतः स्पष्ट है कि भोग-प्राप्ति वाला सुख जिसे इन्द्रिय-सुख कहते हैं, काल्पनिक है तथा वास्तविक सुख इससे भिन्न है। वह सच्चा सुख क्या है ? मूल प्रश्न तो यह है।

कुछ लोग कहते हैं कि तुम यह करो, वह करो, तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी, तुम्हें इच्छित वस्तु की प्राप्ति होगी और तुम सुखी हो जाओगे।

ऐसा कहनेवाले इच्छाओं की पूर्ति को ही सुख और इच्छाओं की पूर्ति न होने को ही दुःख मानते हैं।

एक तो इच्छाओं की पूर्ति संभव ही नहीं है। कारण कि अनन्त जीवों में प्रत्येक की इच्छाएँ अनन्त हैं और भोग सामग्री सीमित; तथा एक इच्छा की पूर्ति होते ही तत्काल दूसरी नई इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इसप्रकार कभी समाप्त न होनेवाला इच्छाओं का प्रपातवत् प्रवाहक्रम चलता ही रहता है। अतः यह तो निश्चित है कि नित्य बदलती हुई नवीन

इच्छाओं की पूर्ति कभी संभव नहीं है। अतः तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी, इच्छाएँ पूर्ण होंगी और तुम सुखी हो जावोगे; ऐसी कल्पनाएँ मात्र मृगमारीचिका ही सिद्ध होती हैं। न तो कभी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूर्ण होनेवाली हैं और न ही यह जीव इच्छाओं की पूर्ति से सुखी होनेवाला है।

वस्तुतः तो इच्छाओं की पूर्ति में सुख है ही नहीं, यह तो सिर का बोझ कन्धे पर रखकर सुख मानने जैसा है।

यदि कोई कहे जितनी इच्छाएँ पूर्ण होंगी उतना तो सुख होगा ही, पूरा न सही, यह बात भी ठीक नहीं है; कारण कि सच्चा सुख तो इच्छाओं के अभाव में है, इच्छाओं की पूर्ति में नहीं; क्योंकि हम इच्छाओं की कमी (आंशिक अभाव) में आकुलता की कमी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

अतः यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इच्छाओं के पूर्ण अभाव में पूर्ण सुख होगा ही।

यदि यह कहा जाय कि इच्छा पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है; अतः उसे सुख कहना चाहिए।

पर यह कहना भी गलत है; क्योंकि इच्छाओं के अभाव का अर्थ इच्छाओं की पूर्ति होना नहीं, वरन् इच्छाओं का उत्पन्न ही नहीं होना है।

भोग-सामग्री से प्राप्त होनेवाला सुख वास्तविक सुख है ही नहीं; वह तो दुःख का ही तारतम्यरूप भेद है। आकुलतामय होने से वह दुःख ही है। सुख का स्वभाव तो निराकुलता है और इन्द्रियसुख में निराकुलता पाई नहीं जाती है। जो इन्द्रियों द्वारा भोगने में आता है, वह विषयसुख है; वह वस्तुतः दुःख का ही एक भेद है। उसका तो मात्र नाम ही सुख है। अतीन्द्रिय आनन्द इन्द्रियातीत होने से उसे इन्द्रियों द्वारा नहीं भोगा जा सकता। जिसप्रकार आत्मा अतीन्द्रिय होने से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार अतीन्द्रिय सुख आत्मामय होने से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

जो वस्तु जहाँ होती है, उसे वहाँ ही पाया जा सकता है। जो वस्तु जहाँ हो ही नहीं, जिसकी सत्ता की जहाँ संभावना ही न हो, उसे वहाँ कैसे पाया जा सकता है ? जिसप्रकार 'ज्ञान' आत्मा का एक गुण है; अतः ज्ञान की प्राप्ति चेतनात्मा में ही संभव है, जड़ में नहीं; उसीप्रकार 'सुख' भी आत्मा का एक गुण है, जड़ का नहीं; अतः सुख की प्राप्ति आत्मा में ही होगी, शरीरादि जड़ पदार्थों में नहीं।

जिसप्रकार यह आत्मा स्वयं को न जानकर अज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूप परिणमित हो रहा है; उसीप्रकार यह जीव स्वयं सुखस्वरूप होकर भी दुःखरूप परिणमित हो रहा है और सुख की आशा से पर-पदार्थों की ओर ही झाँक रहा है एवं उनके संग्रह में ही प्रयत्नशील है। यही इसके दुःख का मूल कारण है। इसकी सुख की खोज की दिशा ही गलत है। दिशा गलत है; अतः दशा भी गलत (दुःखरूप) होगी ही।

सच्चा सुख पाने के लिए हमें परोन्मुखी दृष्टि छोड़कर स्वयं को (आत्मा को) देखना होगा, स्वयं को जानना होगा; क्योंकि अपना सुख अपनी आत्मा में है। आत्मा अनंत आनंद का कंद है, आनंदमय है। अतः सुख चाहनेवालों को आत्मोन्मुखी होना चाहिए। परोन्मुखी दृष्टिवाले को सच्चा सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

सच्चा सुख तो आत्मा द्वारा अनुभव की वस्तु है, कहने की नहीं, दिखाने की भी नहीं। समस्त पर-पदार्थों पर से दृष्टि हटाकर अन्तर्मुख होकर अपने ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में तन्मय होने पर ही वह प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि आत्मा सुखमय है; अतः आत्मानुभूति ही सुखानुभूति है।

जिसप्रकार बिना अनुभूति के आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार बिना आत्मानुभूति के सच्चा सुख भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

गहराई से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि आत्मा को सुख कहीं से प्राप्त नहीं करना है; क्योंकि वह सुख से ही बना है, सुखमय ही है, सुख भोगने की वस्तु है, अनुभव करने की चीज है। सुख के लिए क्यों तड़पना ? सुख में तड़पन नहीं है, तड़पन में सुख का अभाव है; तड़पन स्वयं दुःख है, तड़पन का अभाव ही सुख है। इसीप्रकार सुख को क्या चाहना ? चाह स्वयं दुःखरूप है, चाह का अभाव ही सुख है।

‘सुख क्या है ?’, ‘सुख कहाँ है ?’, ‘वह कैसे प्राप्त होगा ?’ – इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है, एक ही समाधान है और वह है आत्मानुभूति। उस आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्वविचार है। पर ध्यान रहे वह आत्मानुभूति अपनी प्रारम्भिक भूमिका – तत्त्वविचार का भी अभाव करके उत्पन्न होती है। ‘मैं कौन हूँ ?’, ‘आत्मा क्या है?’ और ‘आत्मानुभूति कैसे प्राप्त होती है ?’ – ये पृथक् विषय हैं; अतः इन पर पृथक् से विवेचन अपेक्षित है।



पर-पदार्थों में लगा हुआ वर्तमान प्रकट ज्ञान का प्रत्येक कण गर्म तवे या रेगिस्तान में पड़े हुए जल-बिन्दु के समान या तो जल जाता है या सूख जाता है, विकल्पात्मक आत्म-चिन्तन में लगा हुआ ज्ञानकण कमलपत्र पर पड़े हुए जल-बिन्दु के समान मोती के समान चमकता है; किन्तु आत्मा में लगा हुआ ज्ञानांश नदी की धारा के समान निरन्तर विस्तार को प्राप्त होता हुआ ज्ञान-सागर बन जाता है, अर्थात् पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

– डॉ. भारिल्ल की डायरी से

मैं कौन हूँ

‘मैं’ शब्द का प्रयोग हम प्रतिदिन कई बार करते हैं, पर गहराई से कभी यह सोचने का यत्न नहीं करते हैं कि ‘मैं’ का वास्तविक अर्थ क्या है? ‘मैं’ का असली वाच्यार्थ क्या है? ‘मैं’ शब्द किस वस्तु का वाचक है?

सामान्य तरीके से सोचकर आप कह सकते हैं कि इसमें गहराई से सोचने की बात ही क्या है? क्या हम इतना भी नहीं समझते हैं कि मैं कौन हूँ? और आप उत्तर भी दे सकते हैं कि ‘मैं बालक हूँ या जवान हूँ, मैं पुरुष हूँ या स्त्री हूँ, मैं पण्डित हूँ या सेठ हूँ।’ पर मेरा प्रश्न तो यह है कि क्या आप इनके अलावा और कुछ नहीं हैं? क्योंकि ये सब तो बाहर से दिखनेवाली संयोगी पर्यायें मात्र हैं।

मेरा कहना है कि यदि आप बालक हैं तो बालकपन तो एक दिन समाप्त हो जानेवाला है, पर आप तो फिर भी रहेंगे; अतः आप बालक नहीं हो सकते। इसीप्रकार जवान भी नहीं हो सकते; क्योंकि बालकपन और जवानी यह तो शरीर के धर्म हैं तथा ‘मैं’ शब्द शरीर का वाचक नहीं है। मुझे विश्वास है कि आप भी अपने को शरीर नहीं मानते होंगे।

ऐसे ही आप सेठ तो धन के संयोग से हैं, पर धन तो निकल जानेवाला है; तो क्या जब धन नहीं रहेगा, तब आप भी न रहेंगे? तथा पण्डिताई तो शास्त्रज्ञान का नाम है; तो क्या जब आपको शास्त्रज्ञान नहीं था, जब आप नहीं थे? यदि थे, तो मालूम होता है कि आप धन और पण्डिताई से भी पृथक् हैं अर्थात् आप सेठ और पण्डित भी नहीं हैं।

तब प्रश्न उठता है कि आखिर ‘मैं हूँ कौन?’ यदि एक बार यह प्रश्न हृदय की गहराई से उठे और उसके समाधान की सच्ची जिज्ञासा जगे तो

इसका उत्तर मिलना दुर्लभ नहीं है; पर यह 'मैं' पर की खोज में स्वयं को भूल रहा है। कैसी विचित्र बात है कि खोजनेवाला खोजनेवाले को ही भूल रहा है। सारा जगत पर की संभाल में इतना व्यस्त नजर आता है कि 'मैं कौन हूँ ?' ह यह सोचने-समझने की उसे फुर्सत ही नहीं है।

पर-पदार्थों की खोज में उलझे इस जगत को स्वयं के अस्तित्व पर उतना भी भरोसा नहीं है कि जितना परपदार्थों के अस्तित्व पर है।

जब मैं किसी को रूमाल दिखाकर कहता हूँ कि यह रूमाल है न ? तब सभी कहते हैं हाँ है; पर जब मैं कहता हूँ कि आत्मा है न ? तो लोग कहते हैं कि आत्मा भी होगा। तात्पर्य यह है कि जैसा रूमाल का अस्तित्व हमें स्वीकार है, वैसा आत्मा का नहीं; क्योंकि रूमाल के सन्दर्भ में हम 'है' कहते हैं और आत्मा के संदर्भ में 'होगा' बोलते हैं।

जब मैं फिर पूछता हूँ कि आत्मा होगा या है ? तब उनका उत्तर होता है कि जब आप कहते हैं तो होगा ही।

'मैं कहता हूँ; इसलिए है या वह वास्तव में है' ह ऐसा पूछने पर बड़े ही भोलेपन से उत्तर देते हैं कि आप अपनी ओर से थोड़े ही कहते हैं, शास्त्रों में जो लिखा है, वही बताते हैं।

जब मैं यह कहता हूँ कि इसका अर्थ तो यह हुआ कि आत्मा के अस्तित्व का आधार शास्त्र है? तब वे कहते हैं कि बात तो ऐसी ही है; क्योंकि शास्त्रों में भी तो वही लिखा है, जो भगवान की दिव्यध्वनि में आया था।

इसतरह हम देखते हैं कि आत्मा हमारे लिए एक सुनी हुई बात है, पढ़ी हुई बात है; देखी-जानी नहीं।

जबतक हम स्वयं को देखेंगे नहीं, जानेंगे नहीं; उसकी अनुभूति नहीं करेंगे; तबतक हमें उसका अस्तित्व भी स्वीकार नहीं होगा।

अरे भाई, वह आत्मा और कोई नहीं, तुम स्वयं ही हो। तुम्हें स्वयं के अस्तित्व का भी भरोसा नहीं; इससे अधिक बदतर स्थिति और क्या हो सकती है ? एक बार उसे जानो, देखो और उसके अस्तित्व का अनुभव करो।

जब हम किसी के घर जाते हैं तो उसके दरवाजे पर लगी घंटी को बजाते हैं। घर की मालकिन के पूछने पर कि कौन है, क्या काम है, किससे मिलना है ? हम अपना परिचय देते हैं, घर के मालिक से मिलने की बात कहते हैं। यदि गृहपति घर में हुआ तो ठीक, अन्यथा उत्तर मिल जाता है कि वे घर पर नहीं हैं; किन्तु मैं स्वयं के घर जाऊँ और घंटी बजाऊँ। अन्दर से पत्नी के पूछने पर कहूँ कि मैं डॉ. भारिल्ल (स्वयं) से मिलना चाहता हूँ। सुबह से उन्हें खोज रहा हूँ, पर वे मिल नहीं रहे हैं। वे आपके यहाँ तो नहीं आये ?

जरा सोचो, मेरे द्वारा ऐसा कहा जाने पर क्या होगा ? यही न कि मुझे पागलखाने भेजे जाने की तैयारी होने लगेगी; क्योंकि लोक में कोई स्वयं को खोजता फिरे और कहे कि मुझे मैं नहीं मिल रहा हूँ तो उसका स्थान पागल खाने के अतिरिक्त और कहाँ हो सकता है ?

इसीप्रकार हमें सबकुछ समझ में आता है; पर आत्मा (मैं) समझ में नहीं आता है तो हमारा स्थान कहाँ होना चाहिए ?

अरे भाई, जहाँ हम रह रहे हैं ह यह संसार एक पागलखाना ही तो है; क्योंकि यहाँ के अधिकांश लोग सबको जान रहे हैं, पर जाननेवाले को नहीं जानते; सबको देख रहे हैं, पर देखनेवाले को नहीं देखते; सबके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं; पर स्वयं (आत्मा) के अस्तित्व में संदेह व्यक्त करते हैं। हम पर के देखने-जानने में इतने व्यस्त हैं कि स्वयं को जानने के लिए हमारे पास समय ही नहीं है।

अरे भाई, जाननेवाले को जानो, देखनेवाले को देखो; स्वयं को

पहिचानो और स्वयं में ही समा जावो; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

हाँ, तो फिर मैं हूँ कौन ?

‘मैं’ शरीर, मन, वाणी और मोह-राग-द्वेष; यहाँ तक कि क्षणस्थायी परलक्षी बुद्धि से भिन्न एक त्रैकालिक, शुद्ध, अनादि-अनन्त, चैतन्य, ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ, जिसे आत्मा कहते हैं।

जिसप्रकार ‘मैं बंगाली हूँ, मैं मद्रासी हूँ और मैं पंजाबी हूँ; हूँ इस प्रान्तीयता के घटाटोप में आदमी भूल जाता है कि ‘मैं भारतीय हूँ’ और प्रान्तीयता की सघन अनुभूति से भारतीय राष्ट्रीयता खण्डित होने लगती है; उसीप्रकार ‘मैं मनुष्य हूँ, देव हूँ; पुरुष हूँ, स्त्री हूँ; बालक हूँ, जवान हूँ; आदि में आत्मबुद्धि के बादलों के बीच आत्मा तिरोहित सा हो जाता है।

जिसप्रकार आज के राष्ट्रीय नेताओं की पुकार है कि देशप्रेमी बन्धुओ! आप लोग मद्रासी और बंगाली होने के पहिले भारतीय हैं हूँ यह क्यों भूल जाते हैं ? उसीप्रकार मेरा कहना है कि हम ‘मैं सेठ हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ’ के कोलाहल में ‘मैं आत्मा हूँ’ हूँ यह क्यों भूल जाते हैं ?

जिसप्रकार भारत देश की अखण्डता अक्षुण्ण रखने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक भारतीय में ‘मैं भारतीय हूँ’ हूँ यह अनुभूति प्रबल होनी चाहिए; क्योंकि राष्ट्रीय एकता के लिए उक्त अनुभूति ही एकमात्र सच्चा उपाय है।

उसीप्रकार ‘मैं कौन हूँ ?’ का सही उत्तर पाने के लिए ‘मैं आत्मा हूँ’ की अनुभूति प्रबल हो; हूँ यह अति आवश्यक है।

हाँ ! तो स्त्री, पुत्र, मकान, रुपया, पैसा यहाँ तक कि शरीर से भी भिन्न ‘मैं’ तो एक चेतनतत्त्व आत्मा हूँ। आत्मा में उठनेवाले मोह-राग-द्वेष भाव भी क्षणस्थायी विकारी भाव होने से आत्मा की सीमा में नहीं

आते तथा परलक्षी ज्ञान का अल्पविकास भी परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा का अवबोध कराने में समर्थ नहीं है।

यहाँ तक कि ज्ञान की पूर्ण विकसित अवस्था केवलज्ञान भी अनादि-अनन्त पूर्ण एक ज्ञानस्वभावी आत्मा नहीं हो सकता है; क्योंकि आत्मा तो एक द्रव्य है और यह केवलज्ञान आत्मा के ज्ञान गुण की पूर्ण विकसित एक पर्याय मात्र है।

‘मैं’ का वाच्यार्थ ‘आत्मा’ तो अनादि-अनन्त अविनाशी त्रैकालिक तत्त्व है। जबतक उस ज्ञानस्वभावी अविनाशी ध्रुवतत्त्व में अहंबुद्धि (वही ‘मैं’ हूँ हूँ ऐसी मान्यता) नहीं आती; तबतक ‘मैं कौन हूँ ?’ यह प्रश्न भी अनुत्तरित ही रहेगा।

‘मैं’ शब्द के द्वारा जिस आत्मा का कथन किया जाता है; वह आत्मा अन्तरोन्मुखी दृष्टि का विषय है, अनुभवगम्य है; बहिर्लक्षी दौड़-धूप से वह प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वह स्वसंवेद्य तत्त्व है; अतः उसे मानसिक विकल्पों में नहीं बांधा जा सकता है।

उसे इन्द्रियों द्वारा भी उपलब्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि इन्द्रियाँ तो मात्र स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द की ग्राहक हैं। अतः वे तो केवल स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाले जड़तत्त्व को ही जानने में निमित्त मात्र हैं। वे इन्द्रियाँ अरस, अरूपी आत्मा को जानने में एक तरह से निमित्त भी नहीं हो सकती हैं।

यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कंद है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और मोह-राग-द्वेष आदि सर्व परभावों से भिन्न, सर्वांग परिपूर्ण शुद्ध है। समस्त परभावों से भिन्नता और ज्ञानादिमय भावों से अभिन्नता ही इसकी शुद्धता है। यह एक है। अनन्त गुणों की अखण्डता की इसकी एकता है।

ऐसा यह आत्मा मात्र आत्मा है और कुछ नहीं है यानी ‘मैं’ मैं ही हूँ और कुछ नहीं। ‘मैं’ मैं ही हूँ और अपने में ही सबकुछ हूँ। पर को देने

लायक मुझमें कुछ भी नहीं है तथा अपने में परिपूर्ण होने से पर के सहयोग की भी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है।

यह आत्मा वाग्विलास और शब्दजाल से परे है, मात्र अनुभूतिगम्य है। उस आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्व-विचार है; पर वह आत्मानुभूति तत्त्वविचार अर्थात् आत्मतत्त्व संबंधी विकल्प का भी अभाव करके प्रकट होनेवाली स्थिति है।

‘मैं कौन हूँ?’ यह जानने की वस्तु है, यह अनुभूति द्वारा प्राप्त होनेवाला समाधान (उत्तर) है। यह वाणी द्वारा व्यक्त करने और लेखनी द्वारा लिखने की वस्तु नहीं है। वाणी और लेखनी की इस संदर्भ में मात्र इतनी ही उपयोगिता है कि ये उसकी ओर संकेत कर सकती है। ये दिशा इंगित कर सकती है, दशा नहीं ला सकती हैं।

मैं अर्थात् स्वयं, स्वयं का आत्मा, देह में रहने पर भी देह से भिन्न आत्मा, वर्तमान में राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी उन क्षणिक राग-द्वेषरूप नश्वर भावों से भिन्न आत्मा, सादि-सान्त पर्यायों से भिन्न अनादि-आत्मा, अनंत गुणवाला होने पर भी गुणभेद से भिन्न ज्ञानानन्द-स्वभावी आत्मा; ऐसे आत्मा को जानने के लिए सबसे पहले शुद्धात्मा के निरूपक शास्त्रों में पढ़कर और आत्मानुभवी गुरुओं के मुख से सुनकर उसका सही स्वरूप समझना होगा। तदुपरान्त परोन्मुखी दृष्टि त्याग कर स्वोन्मुखी दृष्टि से अन्तर्मुख होकर उसका अनुभव करना होगा; कुछ क्षणों के लिए ही सही, पर उसी में समा जाना होगा। भगवान आत्मा अर्थात् मैं को समझने का एकमात्र यही सम्यक् मार्ग है।

उक्त मार्ग पर चलकर सभी आत्मा निज भगवान आत्मा को अर्थात् स्वयं को जाने, पहिचाने और स्वयं में रम जाये, जम जाये, स्वयं में समा जाये ह्व इस मंगल भावना से विराम लेता हूँ।

●

आत्मानुभूति और तत्त्वविचार

‘सुख क्या है’ और ‘मैं कौन हूँ?’ इन प्रश्नों का सही उत्तर प्राप्त करने का एकमात्र उपाय आत्मानुभूति है तथा आत्मानुभूति प्राप्त करने का प्रारंभिक उपाय तत्त्वविचार है; पर आत्मानुभूति अपनी प्रारंभिक भूमिका तत्त्वविचार का भी अभाव करती हुई उदित होती है; क्योंकि तत्त्वविचार विकल्पात्मक है और आत्मा निर्विकल्पक स्वसंवेद्य तत्त्व है। निर्विकल्पक तत्त्व की अनुभूति विकल्पों द्वारा नहीं की जा सकती है।

उक्त तथ्य ‘सुख क्या है?’ और ‘मैं कौन हूँ?’ नामक निबंधों में स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ तो विचारणीय प्रश्न यह है कि आत्मानुभूति की दशा क्या है और तत्त्वविचार किसे कहना ?

अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का नाम ही आत्मानुभूति है। वर्तमान प्रगट ज्ञान को परलक्ष्य से हटा कर स्वद्रव्य (त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व) में लगा देना ही आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। वह ज्ञानतत्त्व से निर्मित होने से, ज्ञानतत्त्व की ग्राहक होने से और सम्यग्ज्ञान-परिणति की उत्पादक होने से ज्ञानमय है।

अतः वह आत्मानुभूति ज्ञायक, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञप्तिरूप होकर भी इनके भेद से रहित अभेद और अखण्ड है। तात्पर्य यह है कि जाननेवाला भी स्वयं आत्मा है और जानने में आनेवाला भी स्वयं आत्मा ही है तथा ज्ञानपरिणति भी आत्मामय हो रही है।

यह ज्ञानमय दशा आनन्दमय भी है, यह ज्ञानानन्दमय है। इसमें ज्ञान और आनन्द का भेद नहीं है। यह ज्ञान भी इन्द्रियातीत है और आनन्द भी इन्द्रियातीत। यह अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दरूप दशा ही धर्म है। अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व पर सम्पूर्ण प्रगट ज्ञानशक्ति का केन्द्रीभूत हो जाना धर्म की दशा है। अतः एक मात्र यही ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व

ध्येय है, साध्य है और आराध्य है तथा मुक्ति के पथिक तत्त्वाभिलाषी आत्मारथी को समस्त जगत अध्येय, असाध्य और अनाराध्य है।

यह चैतन्यभावरूप आत्मानुभूति ही करने योग्य कार्य (कर्म) है। पर की किसी भी प्रकार की अपेक्षा बिना चेतन आत्मा ही इसका कर्ता है और यही धर्मपरिणतिरूप ज्ञानचेतना सम्यक् क्रिया है। इसमें कर्ता, कर्म और क्रिया का भेद कथनमात्र है; वैसे तो तीनों ही ज्ञानमय होने से अभिन्न (अभेद) ही हैं।

धर्म का आरंभ भी आत्मानुभूति से होता है और पूर्णता भी इसी की पूर्णता में। इससे परे धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है। साधक के लिए एकमात्र यही इष्ट है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है।

उक्त प्रयोजन की सिद्धि हेतु जिन वास्तविकताओं की जानकारी आवश्यक है, उन्हें प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं तथा उनके संबंध में किया गया विकल्पात्मक प्रयत्न ही तत्त्वविचार कहलाता है।

‘मैं कौन हूँ?’ (जीव तत्त्व) और ‘पूर्ण सुख क्या है?’ (मोक्ष तत्त्व) हूँ ये दो इस वैचारिक प्रक्रिया के मूलभूत प्रश्न हैं। मैं सुख कैसे प्राप्त करूँ अर्थात् आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की दशा को कैसे प्राप्त हो, जीवतत्त्व मोक्षतत्त्वरूप किसप्रकार परिणमित हो ? हूँ आत्माभिलाषी मुमुक्षु के मानस में निरंतर यही मंथन चलता रहता है।

वह विचारता है कि चेतन तत्त्व से भिन्न जड़ तत्त्व की सत्ता भी लोक में है। आत्मा में अपनी भूल से मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तथा शुभाशुभ भावों की परिणति में ही यह आत्मा उलझा (बंधा) हुआ है। जबतक आत्मा अपने स्वभाव को पहिचान कर आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता; तबतक मुख्यतः मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति होती ही रहेगी। इनकी उत्पत्ति रुके, इसका एक मात्र उपाय उपलब्ध ज्ञान का आत्म-केन्द्रित हो जाना

है। इसी से शुभाशुभ भावों का अभाव होकर वीतराग भाव उत्पन्न होगा और एक समय वह होगा कि समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर आत्मा वीतराग-परिणतिरूप परिणत हो जायेगा। दूसरे शब्दों में पूर्ण ज्ञानानन्दमय पर्यायरूप परिणमित हो जायेगा।

उक्त वैचारिक प्रक्रिया ही तत्त्वविचार की श्रेणी है। स्वानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया निरंतर तत्त्वमंथन की प्रक्रिया है; किन्तु तत्त्वमंथनरूप विकल्पों से भी आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होगी; क्योंकि कोई भी विकल्प ऐसा नहीं जो आत्मानुभूति को प्राप्त करा दे।

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि जड़ (अचेतन) द्रव्य तो पर हैं ही, अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन पदार्थ भी पर हैं तथा आत्मा में प्रति समय उत्पन्न होनेवाली विकारी-अविकारी पर्यायों (दशा) भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकतीं। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्मतत्त्व है, वही एक मात्र दृष्टि का विषय है; उसके आश्रय से ही आत्मानुभूति प्रगट होती है और उस आत्मानुभूति को ही धर्म कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में रंग, राग और भेद से भी परे चेतन तत्त्व है। रंग माने पुद्गलादि पर पदार्थ, राग माने आत्मा में उठनेवाले शुभाशुभरूप रागादि विकारी भाव और भेद माने गुण-गुणी भेद व ज्ञानादि गुणों के विकास संबंधी तारतम्यरूप भेद। इन सबसे परे ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुव तत्त्व है; वही एक मात्र आश्रय करने योग्य तत्त्व है। उसके प्रति वर्तमान ज्ञान के उघाड़ का सर्वस्व समर्पण ही आत्मानुभूति का सच्चा उपाय है।

प्रश्न यह नहीं है कि आपके पास वर्तमान प्रगटरूप कितनी ज्ञानशक्ति है ? प्रश्न यह है कि क्या आप उसे पूर्णतः आत्मकेन्द्रित कर सकते हैं। स्वानुभूति के लिए स्वस्थ मस्तिष्क व्यक्ति को जितना ज्ञान प्राप्त है, वह

पर्याप्त है। पर प्रगट ज्ञान का आत्म-स्वभाव के प्रति सर्वस्व समर्पण एक अनिवार्य तत्त्व (शर्त) है, जिसके बिना आत्मानुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती। यदि प्रयोजनभूत तत्त्वों का विकल्पात्मक सच्चा निर्णय हो गया हो तो प्रयोजनभूत बहिर्लक्षी ज्ञान की हीनाधिकता से कोई अंतर नहीं पड़ता, पर एकनिष्ठता (आत्मनिष्ठता) अति आवश्यक है।

यह आत्मा अपनी भूल से पर्याय में चाहे जितना उन्मार्गी बने, पर आत्मस्वभाव उसे कभी भी छोड़ नहीं देता; किन्तु जबतक यह आत्मा अपनी दृष्टि को समस्त परपदार्थों से हटा कर आत्मनिष्ठ नहीं हो जाता; तबतक आत्मस्वभाव की सच्ची अनुभूति भी प्राप्त नहीं हो सकती।

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए बाह्य साधनों की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। जिसप्रकार लोक में अपनी वस्तु के उपयोग के लिए पैसा खर्च नहीं करना पड़ता है; उसीप्रकार आत्मानुभूति के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि स्वयं को, स्वयं की, स्वयं के द्वारा ही तो अनुभूति करना है। आखिर इसमें पर की अपेक्षा क्यों हो ? आत्मानुभूति में पर के सहयोग का विकल्प बाधक ही है, साधक नहीं।

आत्मानुभूति के काल में पर संबंधी विकल्पमात्र आत्मानुभूति की एकरसता को छिन्न-भिन्न किए बिना नहीं रहता है। अतः यह निश्चित है कि जो साधक अपनी साधना में पर के सहयोग की आकांक्षा से व्यग्र रहता है, उसके पल्ले मात्र व्यग्रता ही पड़ती है; उसे साध्य की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। अतः आत्मानुभव के अभिलाषी मुमुक्षुओं को पर के सहयोग की कल्पना में आकुलित नहीं रहना चाहिए।

शुभाशुभ विकल्पों के टूटने की प्रक्रिया और क्रम क्या है ? तथा पर-निरपेक्ष आत्मानुभूति के मार्ग के पथिक की अंतरंग व बहिरंग दशा कैसी होती है ? ये अपने आप में विस्तृत विषय है। इन पर पृथक् से विवेचन अपेक्षित है।

●

आत्मानुभूति : प्रक्रिया और क्रम

अन्तरोन्मुखीवृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का नाम आत्मानुभूति है तथा वर्तमान प्रगट ज्ञान को परलक्ष्य से हटाकर स्वद्रव्य (त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व) में लगा देना ही आत्मानुभूति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। इसके पूर्व तत्त्वविचार संबंधी वैचारिक (विकल्पात्मक) प्रक्रिया चलती है। उक्त वैचारिक प्रक्रिया की श्रेणियों को पार करती हुई वर्तमान प्रगट ज्ञानशक्ति उस वैचारिक प्रक्रिया का भी अभाव करती हुई आत्मोन्मुखी होती है। अतः स्वभाव-ग्रहण की प्रक्रिया तत्त्वमंथनपूर्वक अशुभ-शुभ विकल्पों का अभाव करती हुई स्व को ग्रहण करती हुई है। उक्त तथ्य पूर्व निबंधों में स्पष्ट किया जा चुका है।

यहाँ तो मुख्यतः विचार का विषय यह है कि तत्त्वमंथनपूर्वक शुभाशुभ विकल्पों के अभावपूर्वक आत्मानुभूति प्राप्त करने का वास्तविक मार्ग क्या है ?

वैसे तो निरंतर आत्मा में पर-लक्षी वैचारिक प्रक्रिया चला ही करती है। एक भी समय ऐसा नहीं जाता कि जब मनसहित प्राणी कुछ न कुछ विचार न करता रहता हो। इसके साथ ही मोह-राग-द्वेष की वृत्ति के कारण पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पनाएँ भी चला करती हैं। अतः यह जीव कभी किसी का भला करने की सोचता रहता है और कभी किसी का बुरा करने की सोचा करता है। दूसरे का भला-बुरा करना इसके हाथ की बात नहीं है। अतः इसके दोनों विकल्प असत् के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण अशुद्ध हैं; क्योंकि शुद्धता की उत्पत्ति सत् के आश्रय से होती है।

हम दूसरे का भला-बुरा कर सकते हैं या नहीं ? यह एक स्वतंत्र निबंध का विषय है। इस पर अलग से विचार करेंगे।

अशुद्ध भावों को शुभ और अशुभ इन दो भागों में बांटा जाता है। इसे हम इस तरह स्पष्ट कर सकते हैं कि भाव दो प्रकार के होते हैं ह् शुद्ध और अशुद्ध; तथा अशुद्ध भाव भी दो प्रकार के होते हैं ह् शुभ और

अशुभ। इस तरह भाव तीन प्रकार के हुए हैं शुद्ध, शुभ और अशुभ। पर ध्यान रहे शुभ और अशुभ यह दोनों अशुद्ध भावों के ही अवान्तर भेद हैं।

दया, दान, पूजा, भक्ति, तत्त्वविचार आदि के भाव शुभभाव हैं और पंचेन्द्रियों के विषय एवं हिंसादि पाँच पाप आदि के भाव अशुभभाव। अपने उपयोग को पर से समेट कर अपने में लीन हो जाना ही शुद्धभाव हैं। भूमिकानुसार राग व रागांश का अभाव होने से इसे वीतरागभाव भी कहते हैं। शुभाशुभभावों को रागभाव कहते हैं और शुभाशुभभावों के अभावरूप भाव को वीतरागभाव कहते हैं।

आत्मानुभूति की दशा शुद्धभाव है और आत्मानुभूति प्राप्त करने का विकल्प शुभभाव। आत्मानुभूति प्राप्त करने के विकल्प अशुभभावों के अभावपूर्वक ही आते हैं। आत्मानुभूति की प्राप्ति के प्रयत्न के काल में हिंसादि और भोगादि के विकल्प बने रहें, यह संभव ही नहीं। उस काल में तो बहुत से शुभ विकल्प भी प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं; विशेषकर वे शुभ विकल्प जो आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न न होकर पर के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं।

शुभभाव भी कई प्रकार के होते हैं। आत्मखोज संबंधी विकल्प भी शुभ भावों में आते हैं और दीन-दुखियों की सहायता करने के भाव, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि के भाव भी शुभभावों में आते हैं। तत्त्व-विचार की श्रेणी में आत्मखोज संबंधी शुभभाव भी आते हैं, अन्य नहीं। उनका वर्गीकरण सात या नौ तत्त्वों के रूप में किया जाता है। वैसे आत्मचिन्तन संबंधी विकल्पों के भी असंख्य भेद हैं, जिन्हें शब्दों में नहीं बांधा जा सकता है।

उक्त कथन भी नास्ति की अपेक्षा से है। आत्मानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया सद्भावात्मक है, अभावात्मक नहीं। स्थिति यह है कि जिसप्रकार गुमशुदा व्यक्ति की तलाश के लिए पुलिस उसकी बाहरी रूपरेखा (हुलिया) उसको प्रत्यक्ष देखनेवाले व्यक्ति के कथन के आधार पर लिख लेती है और उसके आधार पर उसकी खोज की जाती है तथा जिसप्रकार वैज्ञानिक नई खोज करने के पूर्व एक परिकल्पना करते हैं और उसके आधार पर अपने खोज आरंभ करते हैं; उसीप्रकार आत्मसाक्षात्कार करनेवाले वीतरागी सर्वज्ञ

महापुरुषों के कथनानुसार आत्मसंबंधी विकल्पात्मक आधार लेकर मुमुक्षु आत्मानुभूति की दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। वैज्ञानिक कल्पना और आत्मिक कल्पना में इतना अंतर है कि वैज्ञानिक कल्पना का आधार मात्र बौद्धिक है, अतः वह गलत भी सिद्ध हो सकती है; पर आत्मिक कल्पना बौद्धिक होने के साथ ही शास्त्राधार पर निर्मित होती है; अतः उसके गलत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर जबतक हमें आत्मानुभूति नहीं हो जाती, तबतक वह श्रद्धा सम्यक्-श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) नहीं।

यद्यपि वह श्रद्धा आत्मानुभूति प्राप्त पुरुष की भांति नहीं है; तथापि उसमें विकल्पात्मक दृढता की कमी नहीं है। इसके बिना वृत्ति का अन्तरोन्मुखी होना संभव नहीं है। यह एक ऐसी दशा है, जिसे सम्यक् आत्मदर्शन का अभाव है, यह विकल्पात्मक है। सम्यक् न होने पर भी पूर्णतः अविश्वसनीय भी नहीं है। यदि उक्त सविकल्प श्रद्धा अविश्वसनीय हो तो फिर उसके आधार पर आत्मखोज संबंधी कार्य नहीं चलाया जा सकता और यदि उसे पूर्ण श्रद्धा स्वीकार कर ली जावे तो फिर खोज अर्थात् आत्मानुभूति प्राप्त करने की दिशा में बढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः उसे वास्तविक श्रद्धा स्वीकार न करते हुए भी अश्रद्धा न कहकर व्यवहार श्रद्धा कहा जाता है।

किन्तु यह व्यवहार श्रद्धा भी उपचार से है; क्योंकि सच्ची व्यवहार श्रद्धा तो निश्चय श्रद्धा के साथ ही होती है। आत्मानुभूति (निश्चय) पूर्वक, शास्त्राधार पर की गई तर्कसम्मत श्रद्धा ही सच्ची व्यवहार श्रद्धा है।

आत्मानुभूति-प्राप्ति के लिए सन्नद्ध पुरुष प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय करता है। तत्पश्चात् आत्मा की प्रकट-प्रसिद्धि के लिए, पर-प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों से मतिज्ञानत्व को समेट कर आत्माभिमुख करता है तथा अनेक प्रकार के नय पक्षों का अवलम्बन करने वाले विकल्पों से आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी गौण कर श्रुतज्ञान को भी आत्माभिमुख करता हुआ विकल्पानुभवों को पार कर स्वानुभव दशा को प्राप्त हो जाता है।

आत्मानुभूति प्राप्त आत्मा की अंतरंग और बाह्य दशा कैसी होती है वह इसे अगले निबंध में स्पष्ट करेंगे। ●

आत्मानुभवी पुरुष : अंतर्बाह्य दशा

तत्त्वविचार किसे कहते हैं और आत्मानुभूति क्या है तथा वह कैसे प्राप्त की जा सकती है ? आदि विषय पूर्व निबंधों में स्पष्ट किए जा चुके हैं। यहाँ तो विचारणीय विषय यह है कि आत्मानुभूति प्राप्त पुरुष (आत्मा) की अन्तर्बाह्य परिणति कैसी होती है ?

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों की अन्तर्परिणति अनुभूति के काल में अत्यन्त शांत एवं ज्ञानानंदमय होती है। दृष्टि के अंतर्मुख होते ही समस्त शुभाशुभ विकल्पजाल प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर में निर्विकल्पक अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ता है कि समाता ही नहीं। वे आत्मानन्द में मग्न हो जाते हैं।

उनका ज्ञान अन्तरोन्मुखी होने से एवं आनंद पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ न होने से अतीन्द्रिय व स्वाश्रित होता है।

वह ज्ञानानन्द की दशा ऐसी होती है कि बाहर की अनन्त प्रतिकूलताएँ और अनुकूलताएँ उसे भग्न नहीं कर सकतीं। उन्हें उनकी खबर ही नहीं पड़ती। वे तो अपने में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि लोक की कोई भी घटना उनके आनन्द सागर में भँवर पैदा नहीं कर सकती। उनका वह आनन्द सिद्धों के आनन्द के समान ही है। यद्यपि अभी उसमें अपूर्णता है, सिद्धों के आनन्द का अनंतवाँ भाग ही है; तथापि है उसी जाति का।

आत्मानुभूति के काल के पश्चात् अन्य समय में भी उन्हें उसकी खुमारी सदा बनी रहती है; क्योंकि अन्य समय में भी भूमिकानुसार शुद्ध परिणति का अंश एवं लब्धिरूप से शुद्धात्मानुभूति पाई जाती है। परिपूर्ण निज आत्मा का रस (स्वाद) चख लेने पर जगत के समस्त रस फीके हो जाते हैं। पंचेन्द्रिय के विषयों की रुचि हट जाती है। जगत के समस्त बाह्य क्रिया-कलापों और दौड़-धूप से विरक्ति हो जाती है। दुःख का घर यह संसार, इसके प्रति कौतूहल का भाव समाप्त हो जाता है और मन में

उठनेवाली राग-द्वेष की कल्पनाएँ भी मंद पड़ने लगती हैं।

उनकी दशा जगत के जीवों को कुछ अटपटी सी लगती है; क्योंकि (पुण्य के फल) अतुल भोग-सामग्री के बीच रहकर भी उनके अन्तर में लौकिक सम्पदा को कोई स्थान प्राप्त नहीं होता है। भय और लालच उनके सामने कोई महत्त्व नहीं रखते। लौकिक मान-सम्मान का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं होता। आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों के चित्त को वर्तमान आपत्तियाँ और सम्पत्तियाँ विचलित नहीं कर पाती हैं।

लौकिक घटनाएँ उन्हें आंदोलित नहीं करतीं, वे मात्र उन्हें जानते हैं, वे उनके ज्ञान का मात्र ज्ञेय बनकर रह जाती हैं। भूमिकानुसार कमजोरी के कारण किंचित् राग-द्वेष उत्पन्न भी हो जावें तो वे उसे भी ज्ञान का ज्ञेय बना लेते हैं। वे समस्त पर-पदार्थों को, यहाँ तक कि अपनी परिणति को भी, मात्र जानते-देखते हुए प्रवर्तते हैं।

उनका हृदय सागर के समान गंभीर हो जाता है। जिसप्रकार सागर बरसाती बाढ़ से युक्त अनेक नदियों के एक साथ आकर गिरने पर भी आंदोलित नहीं होता; उसीप्रकार इष्ट-अनिष्ट लगनेवाले जगत के अनेकों परिवर्तन भी ज्ञानी आत्मा को आंदोलित नहीं कर पाते तथा जिसप्रकार समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं उलांघता; उसीप्रकार वे भी अपनी ज्ञान-स्वभाव की सीमा का कभी उल्लंघन नहीं करते।

असीम निशंकता, भोगों के प्रति अनासक्ति, समस्त पदार्थों की विकृत-अविकृत दशाओं में समता भाव, वस्तुस्वरूप की पैनी पकड़, पर के दोषों के प्रति उपेक्षा भाव, आत्मशुद्धि की वृद्धिगत दशा, विश्वासों की दृढता, परिणामों की स्थिरता, गुण और गुणियों में अनुराग, आत्म-लीनता द्वारा अपनी और उपदेशादि द्वारा वस्तुतत्त्व की प्रभावना उनकी अपनी विशेषताएँ हैं।

उनका चित्त चंदन के समान शीतल (शान्त) हो जाता है। उनमें दीनता नहीं रहती, वे विषयों के भिखारी नहीं होते। वे अपने लक्ष्य (आत्मा) को प्राप्त कर लेने से सच्चे लक्षपति (लखपति) होते हैं। साथ

ही उनके हृदय में पूर्ण आत्मस्वभाव को प्राप्त करनेवाले सर्वज्ञ-वीतरागियों के प्रति अनंत भक्ति का भाव रहता है।

जिसप्रकार गृहस्थों के बच्चे उनके मकान के सामने से गुजरनेवाले मार्ग में खेला करते हैं; उसीप्रकार ये जिनेश्वर के लघुनन्दन मुक्तिमार्ग में खेला करते हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी धर्मपरिणति स्वाभाविक और सहज होती है; उन्हें खींचतान कर उसे नहीं करना पड़ता, वह उन्हें बोझ रूप नहीं होती।

यद्यपि राग-द्वेष की तीव्रता के काल में उनके बाहर में तीव्र क्रोधादिक रूप परिणति भी देखने में आवे, वे भोगों में प्रवर्त होते हुए भी दिखाई दें, भयंकर युद्ध में सिंह से गर्जते प्रवर्त हों; तथापि उनकी श्रद्धा में पर के कर्तृत्व का अहंकार नहीं होता। पर से पृथक्त्व एवं उसके अकर्तृत्व की श्रद्धा सदा विद्यमान रहती है।

उनकी प्रवृत्ति धाय के समान होती है। जिसप्रकार धाय अन्य के बालक का पालन-पोषण भी अपने बालकवत् ही करती है; परन्तु उसके अंतर में यह श्रद्धा सदा ही बनी रहती है कि यह बालक मेरा नहीं है तथा एक समय भी वह इस बात को भूल नहीं पाती। उसीप्रकार ज्ञानी जन जगत के कार्यों में प्रवृत्त दिखाई देने पर भी उन्हें उनसे एकत्व नहीं व्यापता है।

जिसप्रकार अनेक गृह-कार्यों को देखते हुए एवं सखीजन से अनेक प्रकार की चर्चाएँ करते हुए भी महिलाओं का मन अपने पतियों पर ही लगा रहता है, वे उन्हें भूल नहीं पातीं, उसीप्रकार आत्मानुभवी आत्माएँ भी जगत के क्रिया-कलापों में व्यस्त रहते दिखाई देने पर भी आत्म-विस्मृत नहीं होतीं। उनकी आत्म-जागृति लब्धिरूप से सदा बनी रहती है।

जिसप्रकार सेठ के कार्य में प्रवृत्त मुनीम का समस्त बाह्य व्यवहार सेठ के समान ही होता है। वह इसप्रकार की चर्चा व चिन्ता करता हुआ भी देखा जाता है कि 'हमें अपना माल बेचना है, अधिक भाव उतर जावेंगे तो हमें बहुत नुकसान होगा।' हर्ष-विषाद को भी प्राप्त होता देखा जाता है; किन्तु अन्तर में सेठ से अपने पृथक्त्व को कभी भी भूलता नहीं

है। वह अच्छी तरह जानता है कि मुझे कैसा नुकसान और क्या लाभ ? लाभ-हानि तो सेठजी की है।

उसीप्रकार ज्ञानियों के बाह्य कार्यों में एकाकार दिखने पर भी अन्तर में विद्यमान पृथक्ता उन्हें जल से भिन्न कमल एवं कर्दम (कीचड़) में पड़े निर्मल कंचन के समान ही रखती है। भोगादि प्रवृत्ति के समान देहाश्रित व्रत-संयम क्रियाओं में भी उनका अपनत्व नहीं होता।

ज्ञानी-गृहस्थ की दशा बड़ी ही विचित्र होती है। वह न तो भोगों को अज्ञानियों के समान भोगता ही है; क्योंकि उसे भोग की रुचि न होकर आत्मानन्द की रुचि है और न वह अपनी कमजोरी के कारण उन्हें त्याग ही पाता है। यदि पूर्ण त्याग दे तो फिर गृहस्थ न रहकर साधु हो जायेगा। अतः उसकी दशा एक तरह से न भोगनेरूप ही है और न त्यागनेरूप ही।

उसकी दशा तो उस कंजूस व्यक्ति के समान है, जो सब प्रकार से सम्पन्न होने पर भी अपनी लोभ प्रवृत्ति के कारण अपने घर स्वयं के लिए मिष्टान्न बना कर कभी खाता नहीं; अतिथि के आने पर कदाचित् बनाता भी है और उसके साथ बैठ कर खाता भी है; पर अतिथि के समान उसमें मग्न नहीं हो पाता; क्योंकि वह खाते समय भी अपनी लोभ परिणति का ही वेदन करता रहता है, मिष्टान्न के स्वाद का पूरा आनन्द नहीं ले पाता।

उसीप्रकार आत्मानुभूति प्राप्त पुरुष विषयों के बीच रहकर भी विषयों के प्रति रुचि के अभाव एवं आत्मरुचि के सद्भाव के कारण अज्ञानी के समान भोगों में मग्न नहीं होता है। अतः उसे इस अपेक्षा भोगी भी नहीं कहा जा सकता तथा अपनी अंतरंग परिणति में जो रागभाव है, उसके कारण वह भोगों को त्याग भी नहीं पाता। अतः वह भोगों का त्याग न कर पाने की वजह से त्यागी भी नहीं कहा जा सकता है। वह न भोगी है और न त्यागी। वस्तुतः वह तो निरंतर त्याग की भावना वाला भोगों के बीच खड़ा हुआ अनासक्त व्यक्ति है।

आत्मानुभव प्राप्त ज्ञानी पुरुष की अंतर्बाह्य परिणति एक ऐसा विषय है; जिसके विवेचन के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना अपेक्षित है। ●

अहिंसा

‘अहिंसा परमो धर्मः’ अहिंसा को परमधर्म घोषित करने वाली यह सूक्ति आज भी बहु प्रचलित है। यह तो एक स्वीकृत तथ्य है कि अहिंसा परमधर्म है; पर प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है?

साधारण भाषा में अहिंसा शब्द का अर्थ होता है हिसा न करना; किन्तु जब भी हिंसा-अहिंसा की चर्चा चलती है, तो हमारा ध्यान प्रायः दूसरे जीवों को मारना, सताना या उनकी रक्षा करना आदि की ओर ही जाता है। हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध प्रायः दूसरों से ही जोड़ा जाता है। दूसरों की हिंसा मत करो, बस यही अहिंसा है, ऐसा ही सर्वाधिक विश्वास है; किन्तु यह एकांगी दृष्टिकोण है। अपनी भी हिंसा होती है, इस ओर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। जिनका जाता भी है तो वे भी आत्महिंसा का अर्थ केवल विषभक्षणादि द्वारा आत्मघात (आत्महत्या) ही मानते हैं, उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया जाता है।

अन्तर में राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति का होना भी हिंसा है, यह बहुत कम लोग जानते हैं।

प्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचन्द्र ने अन्तरंग पक्ष को लक्ष्य में रखते हुए पुरुषार्थसिद्धयुपाय में हिंसा-अहिंसा की निम्नलिखित परिभाषा दी है ह

“अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भव्यत्यहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

आत्मा में राग-द्वेष-मोहादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और इन भावों का आत्मा में उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है। यही जिनागम का सार है।”

यहाँ स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि क्या फिर जीवों का मरना, मारना हिंसा नहीं है और उनकी रक्षा करना अहिंसा नहीं?

इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमें जीवन और मरण के स्वरूप पर विचार करना होगा।

‘मरणं प्रकृतिर्शरीरिणां’ ह्व इस सूक्ति के अनुसार यह एक स्थापित सत्य है कि जो जन्म लेता है, वह एक न एक दिन मरता अवश्य है; शरीरधारी अमर नहीं है। समय आने पर या तो वह दूसरे प्राणी द्वारा मार डाला जाता है या स्वयं मर जाता है।

यदि मृत्यु को हिंसा मानें तो कभी भी हिंसा की समाप्ति नहीं होगी तथा जीवन या जन्म को अहिंसा मानना होगा; क्योंकि जीवन और जन्म मरण के विलोम शब्द हैं। अतः मृत्यु को हिंसा मानना संभव नहीं है।

लोक में भी यथासमय बिना बाह्य कारण के होने वाली मृत्यु को हिंसा नहीं कहा जाता है और न सहज जीवन या जन्म को अहिंसा ही कहा जाता है। इसीप्रकार बाढ़, भूकम्प आदि प्राकृतिक कारणों से भी हजारों प्राणी मर जाते हैं; किन्तु उसे भी हिंसा के अन्तर्गत नहीं लिया जाता है।

इसप्रकार मरना हिंसा और जीवन या जन्म अहिंसा ह्व यह तो सिद्ध नहीं होता।

जहाँ तक मारने और बचाने की बात है, उसके सम्बन्ध में समयसार में समागत आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नलिखित कथनों की ओर ध्यान देना होगा ह

“जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।

सो मूढो अण्णणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।

आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ॥२४८॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।

आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ॥२४८॥

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।

सो मूढो अण्णणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
 आउं च ण देसि तुमं कहां तए जीवदं कदं तेसिं ॥२५१॥
 आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
 आउं च ण दिंति तुहं कहां णु ते जीविदं कदं तेहिं ॥२५२॥

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारे अन्य जन ।
 यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ! ॥२४७॥
 निज आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
 तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं ? ॥२४८॥
 निज आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
 वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं ? ॥२४९॥
 मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
 यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ! ॥२५०॥
 सब आयु से जीवित रहें - यह बात जिनवर ने कही ।
 जीवित रखोगे किस तरह जब आयु दे सकते नहीं ? ॥२५१॥
 सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
 कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं ? ॥२५२॥

जो यह मानता है कि मैं पर-जीवों को मारता हूँ और पर-जीव मुझे मारते हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है ।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है । तुम परजीवों के आयुकर्म को तो हरते नहीं हो फिर तुमने उनका मरण कैसे किया ?

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है । पर-जीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ?

जो जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को जिलाता (रक्षा करता) हूँ और पर-जीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है ।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है । तुम पर-जीवों को आयुकर्म तो नहीं देते तो तुमने उनका जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं । पर-जीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा जीवन (रक्षा) कैसे किया ?”

उक्त कथन का निष्कर्ष देते हुए अन्त में वे लिखते हैं ह

“जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
 तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
 जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
 तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

जो मरे या जो दुःखी हों वे सब कर्म के उदय से ।

‘मैं दुःखी करता-मारता’-यह बात क्यों मिथ्या न हो ? ॥२५७॥

जो ना मरे या दुःखी ना हो सब कर्म के उदय से ।

‘ना दुःखी करता मारता’-यह बात क्यों मिथ्या न हो ? ॥२५८॥

जो मरता है और जो दुःखी होता है, वह सब कर्मोदय से होता है; अतः ‘मैंने मारा, मैंने दुःखी किया’ ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है? अवश्य ही मिथ्या है । और जो न मरता है और न दुःखी होता है, वह भी वास्तव में कर्मोदय से ही होता है । अतः ‘मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नहीं किया’ ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है? अवश्य ही मिथ्या है ।”

उक्त संपूर्ण कथन को आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका में दो छन्दों में निम्नानुसार अभिव्यक्त किया है ह

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयं ह

कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।

अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य

कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥१६८॥

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य

पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।

कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते

मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥१६९॥

इस जगत में जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख - यह सब सदैव नियम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मोदय से होता है। 'दूसरा पुरुष इसके जीवन-मरण, सुख-दुःख का कर्ता है' - यह मानना तो अज्ञान है।

जो पुरुष पर के जीवन-मरण, सुख-दुःख का कर्ता दूसरों को मानते हैं; अहंकार रस से कर्मोदय को करने के इच्छुक वे पुरुष नियम से मिथ्यादृष्टि हैं और अपने आत्मा का घात करने वाले हैं।

उक्त कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों को यह कदापि स्वीकार्य नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को मार या बचा सकता है अथवा दुःखी या सुखी कर सकता है। जब कोई किसी को मार ही नहीं सकता और मरते को बचा भी नहीं सकता है तो फिर 'मारने का नाम हिंसा और बचाने का नाम अहिंसा' यह कहना क्या अर्थ रखता है?

द्रव्यस्वभाव से आत्मा की अमरता एवं पर्याय के परिवर्तन में स्वयं के उपादान एवं कर्मोदय को निमित्त स्वीकार कर लेने के बाद एक प्राणी द्वारा दूसरे प्राणी का वध और रक्षा करने की बात में कितनी सच्चाई रह जाती है ह्व यह एक सोचने की बात है। अतः यह कहा जा सकता है कि न मरने का नाम हिंसा है न मारने का, इसीप्रकार न जीने का नाम अहिंसा है न जिलाने का।

हिंसा-अहिंसा का संबंध सीधा आत्मपरिणामों से है। वे दोनों आत्मा के ही विकारी-अविकारी परिणाम हैं। जड़ में उनका जन्म नहीं होता। यदि कोई पत्थर किसी प्राणी पर गिर जाय और उससे उसका मरण हो जाय तो पत्थर को हिंसा नहीं होती; किन्तु कोई प्राणी किसी को मारने का

विकल्प करे तो उसे हिंसा अवश्य होगी, चाहे वह प्राणी मरे या न मरे। हिंसा-अहिंसा जड़ में नहीं होती, जड़ के कारण भी नहीं होती। उनका उत्पत्ति स्थान व कारण दोनों ही चेतन में विद्यमान हैं।

चिद्विकार होने से झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-संग्रह के भाव भी हिंसा के ही रूपान्तर हैं। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में ह्व

“आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।

अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥^१

आत्मा के शुद्ध परिणामों के घात होने से झूठ, चोरी, आदि सभी हिंसा ही हैं; भेद करके तो मात्र शिष्यों को समझाने के लिए कहे गये हैं।”

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध पर-जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह परिणामों से है।

पर के कारण आत्मा में हिंसा उत्पन्न नहीं होती। कहा भी है ह्व

“सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः

हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥^२

यद्यपि पर-वस्तु के कारण रंच मात्र भी हिंसा नहीं होती है; तथापि परिणामों की शुद्धि के लिए हिंसा के स्थान परिग्रहादि को छोड़ देना चाहिए; क्योंकि जीव चाहे मरे या न मरे ह्व अयत्नाचार (अनर्गल) प्रवृत्ति वालों को बंध होता है। सो ही कहा है ह्व

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा ।

पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥^३

जीव मरे या जिये अप्रयत आचरण वाले के अंतरंग हिंसा निश्चित है। प्रयत के, समिति वाले के बहिरंग हिंसा मात्र से बंध नहीं है।”

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द ४२

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द ४९

३. आचार्य कुन्दकुन्द : प्रवचनसार गाथा २१७

हिंसा के दो भेद करके समझाया गया है। भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। रागादि के उत्पन्न होने पर आत्मभावों के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना भावहिंसा है और रागादि भाव हैं निमित्त जिसमें, ऐसे अपने और पराये द्रव्यप्राणों का घात होना द्रव्यहिंसा है।

व्यवहार में जिसे हिंसा कहते हैं वह जैसे किसी को सताना, दुःख देना आदि; वह हिंसा न हो, यह बात नहीं है। वह तो हिंसा है ही; क्योंकि उसमें प्रमाद का योग रहता है।

आचार्य उमास्वामी ने 'प्रमत्तयोगात्-प्राणव्यपरोपणं हिंसा' कहा है। प्रमाद के योग से प्राणियों के द्रव्य और भाव प्राणों का घात होना हिंसा है। उनका प्रमाद से आशय मोह-राग-द्वेष आदि विकारों से ही है। अतः उक्त कथन में द्रव्य-भाव में दोनों प्रकार की हिंसा समाहित हो जाती है। परन्तु हमारा लक्ष्य प्रायः बाह्य हिंसा पर केन्द्रित रहता है, अंतरंग में होने वाली भावहिंसा की ओर नहीं जा पाता है; अतः यहाँ पर विशेषकर अंतरंग में होने वाली रागादिभावरूप भावहिंसा की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तीव्र राग तो हिंसा है, पर मंदराग को हिंसा क्यों कहते हो? किन्तु जब राग हिंसा है तो मंदराग अहिंसा कैसे हो जायेगा? वह भी तो राग की ही एक दशा है। यह बात अवश्य है कि मंदराग मंदहिंसा है और तीव्रराग तीव्रहिंसा है। अतः यदि हम हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं तो उसे मंद तो करना ही चाहिए। राग जितना घटे उतना ही अच्छा है, पर उसके सद्भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता है। धर्म तो राग-द्वेष-मोह का अभाव ही है और वही अहिंसा है, जिसे परमधर्म कहा जाता है।

एक यह प्रश्न भी संभव है कि ऐसी अहिंसा पूर्णतः तो साधु के भी संभव नहीं है। अतः सामान्यजनों (श्रावकों) को तो दयारूप (दूसरों को बचाने का भाव) अहिंसा ही सच्ची है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने श्रावक के आचरण के प्रकरण में ही इस बात को लेकर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा दो प्रकार की नहीं होती। अहिंसा को जीवन में उतारने के स्तर कई हो सकते हैं; पर हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। यदि कोई पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता तो अल्प हिंसा का त्याग करे, पर जो हिंसा वह छोड़ न सके उसे अहिंसा तो नहीं माना जा सकता है। यदि हम पूर्णतः हिंसा का त्याग नहीं कर सकते तो अंशतः त्याग करना चाहिए। यदि वह भी न कर सकें तो कम से कम हिंसा में धर्म मानना और कहना तो छोड़ना चाहिए। शुभराग, राग होने से हिंसा में आता है; अतः उसे धर्म नहीं माना जा सकता।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी हो सकता है कि जब मारने के भाव हिंसा हैं तो बचाने के भाव का नाम अहिंसा होगा? और शास्त्रों में उसे मारने के भाव की अपेक्षा मंदकषाय एवं शुभभावरूप होने से व्यवहार से अहिंसा कहा भी है; परन्तु निश्चय से ऐसा नहीं है तथा यही बात तो जैनदर्शन में सूक्ष्मता से समझने की है। जैनदर्शन का कहना है कि मारने का भाव तो हिंसा है ही; किन्तु बचाने का भाव भी निश्चय से हिंसा ही है; क्योंकि वह भी रागभाव ही है और राग चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, हिंसा ही है। पूर्व में हिंसा की परिभाषा में राग की उत्पत्ति मात्र को हिंसा बताया जा चुका है।

यद्यपि बचाने का राग मारने के राग की अपेक्षा प्रशस्त है; तथापि है तो राग ही। राग तो आग है। आग चाहे नीम की हो या चन्दन की वह जलायेगी ही। उसीप्रकार सर्व प्रकार का राग हिंसारूप ही होता है। अहिंसा तो वीतराग परिणति का नाम है, शुभाशुभ राग का नाम नहीं।

यद्यपि मारने के भाव से पाप का बंध होता है और बचाने के भाव से पुण्य का; तथापि होता तो बंध ही है, बंध का अभाव नहीं। धर्म तो बंध का अभाव करने वाला है; अतः बंध के कारण को धर्म कैसे कहा जा

सकता है? अतः वीतराग भाव ही अहिंसा है, वस्तु का स्वभाव होने से वही धर्म है और मुक्ति का कारण भी वही है।

बचाने के भाव को हिंसा कहने में एक और रहस्य अन्तर्गर्भित है। वह यह है कि जब कोई अज्ञानी जीव किसी अन्य जीव को वस्तुतः मार तो सकता नहीं, किन्तु मारने की बुद्धि करता है; तब उसकी वह बुद्धि तथ्य के विपरीत होने से मिथ्या है। उसीप्रकार जब कोई जीव किसी को बचा तो नहीं सकता, किन्तु बचाने की बुद्धि करता है; तब उसकी यह बचाने की बुद्धि भी उससे कम मिथ्या नहीं है। मिथ्या होने में दोनों में समानता है। मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, जो दोनों में समान रूप से विद्यमान है। तो भी बचाने का भाव पुण्यबंध का कारण है और मारने का भाव पापबंध का कारण है। ये दोनों प्रकार के भाव भूमिकानुसार ज्ञानियों में भी पाए जाते हैं। यद्यपि उनकी श्रद्धा में वे हेय ही हैं; तथापि चारित्र की कमजोरी के कारण आए बिना भी नहीं रहते।

उक्त तथ्य को पण्डित टोडरमलजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं ह

‘सर्व जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं। जहाँ अन्य जीव के इन कार्यों का कर्ता हो, वही मिथ्याध्यवसाय बन्ध का कारण है। वहाँ अन्य जीवों को जिलाने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय हो, वह तो पुण्य बन्ध का कारण है और मारने का अथवा दुःखी करने का अध्यवसाय हो, वह पापबन्ध का कारण है।

इसप्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबन्ध के कारण है और हिंसावत् असत्यादिक पापबन्ध के कारण है। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय है, वे त्याज्य हैं। इसलिये हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बन्ध का कारण जानकर हेय ही मानना।

हिंसा में मारने की बुद्धि हो; परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी प्रशस्त रागपरिणति से आप ही पाप बाँधता है। अहिंसा में रक्षा करने की बुद्धि हो; परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह जीता

नहीं है, यह अपनी प्रशस्त रागपरिणति से आप ही पुण्य बाँधता है। इसप्रकार यह दोनों हेय है; जहाँ वीतराग होकर दृष्टाज्ञातारूप प्रवर्ते, वहाँ निर्बन्ध है; सो उपादेय है।

सो ऐसी दशा न हो तब तक प्रशस्तरागरूप प्रवर्तन करो; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्ध का कारण है, हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।^१’

जैनदर्शन के अनेकान्तिक दृष्टिकोण में उपर्युक्त अहिंसा के सम्बन्ध में यह आरोप भी नहीं लगाया जा सकता है कि यदि उक्त अहिंसा को ही व्यवहारिक जीवन में उपादेय मान लेंगे तो फिर देश, समाज, घरबार; यहाँ तक कि अपनी माँ-बहिन की इज्जत बचाना भी सम्भव न होगा; क्योंकि प्रथम तो ‘कोई व्यक्ति किसी का जीवन-मरण, सुख-दुःख कर ही नहीं सकता’, इस सत्य की स्वीकृति के उपरान्त यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए; दूसरे भूमिकानुसार ज्ञानी जीवों के भी रक्षा आदि के भाव हेयबुद्धिपूर्वक आए बिना नहीं रहते। ज्ञानी गृहस्थों के जीवन में अहिंसा और हिंसा का क्या रूप विद्यमान रहता है, इसका विस्तृत वर्णन जैनाचार ग्रन्थों में मिलता है तथा उसके प्रायोगिक रूप के दर्शन जैनपुराणों के परिशीलन से किए जा सकते हैं। यहाँ उसकी विस्तृत समीक्षा के लिए अवकाश नहीं है। गृहस्थ जीवन में विद्यमान हिंसा और अहिंसा को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यों ने हिंसा का वर्गीकरण चार रूपों में किया है ह

- | | |
|------------------|------------------|
| १. संकल्पी हिंसा | २. उद्योगी हिंसा |
| ३. आरम्भी हिंसा | ४. विरोधी हिंसा |

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु हैं जिसमें ऐसे संकल्प (इरादा) पूर्वक किया गया प्राणघात संकल्पी हिंसा है। व्यापारिक कार्यों में तथा गृहस्थी के आरंभादि कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी जो हिंसा हो जाती है, वह

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२६

उद्योगी आरंभी हिंसा है। अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन, समाज, देशादि पर किये गए आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है। उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में एक संकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है; किन्तु बाकी तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है।

यद्यपि वह उनसे भी बचने का पूरा पूरा यत्न करता है, आरम्भ और उद्योग में भी पूरी पूरी सावधानी रखता है; तथापि उसका आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णरूपेण बच जाना सम्भव नहीं है।

यद्यपि उक्त हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है; तथापि वह उसे उपादेय नहीं मानता, विधेय भी नहीं मानता। मुक्ति के मार्ग के पथिक का व्यक्तित्व द्वैध व्यक्तित्व होता है। उसकी श्रद्धा तो पूर्ण अहिंसक होती है और जीवन भूमिकानुसार।

कोई व्यक्ति अपने जीवन में अहिंसा को कितना उतार पाता है, कितना नहीं ह्व यह एक अलग प्रश्न है और हिंसा और अहिंसा का वास्तविक स्वरूप क्या है ह्व यह एक स्वतंत्र विचारणीय वस्तु है। इस तथ्य को विचारकों को नहीं भूलना चाहिए।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि राग-द्वेष-मोह भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और उन्हें धर्म मानना महाहिंसा है तथा रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही परम अहिंसा है और रागादि भावों को धर्म नहीं मानना ही अहिंसा के सम्बन्ध में सच्ची समझ है। यही जिनागम का सार है।

सर्वाधिक द्रव्य-हिंसा युद्धों में होती है। अधिकांश युद्ध जर (धन सम्पदा), जोरू (स्त्री) और जमीन के लिए होते हैं। रामायण और महाभारत के युद्ध इसके ऐतिहासिक प्रमाण हैं। जर, जोरी और जमीन के प्रति राग होने के कारण युद्ध होते हैं; द्वेष होने के कारण नहीं। अतः द्वेष से भी अधिक हिंसा का कारण राग है। यही कारण है कि जिनागम में राग भाव को भी हिंसा कहा गया है।

अनेकान्त और स्याद्वाद

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुण-धर्मों से युक्त है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही अनेकान्त है और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझानेवाली सापेक्ष कथनपद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।^१ अनेकान्त और स्याद्वाद में द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध है।

समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र इस सम्बन्ध में लिखते हैं ह्व

“स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) कहता है कि अनेकान्त स्वभाववाली होने से सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं।.....

जो वस्तु तत् है, वही अतत् है; जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है; ह्व इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।^२”

अनेकान्त शब्द ‘अनेक’ और ‘अन्त’ ह्व इन दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है ह्व एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच में अनेक के अनेक अर्थ सम्भव हैं तथा अन्त का अर्थ होता है धर्म अथवा गुण।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं; अतः जहाँ अनेक का अर्थ

१. अनेकान्तात्मकार्यकथनं स्याद्वादः। ह्व लघीयस्त्रय टीका

२. स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमने-कांतात्मकमित्यनुशास्ति, तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाश-मनेकान्तः।

अनन्त होगा, वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिए। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा ह्व अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है; किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायेगा, वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा ह्व परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है।

स्यात्कार का प्रयोग धर्मों में होता है, गुणों में नहीं। सर्वत्र ही स्यात्कार का प्रयोग धर्मों के साथ किया है, कहीं भी अनुजीवी गुणों के साथ नहीं।^१

यद्यपि 'धर्म' शब्द का सामान्य अर्थ गुण होता है, पर शक्ति आदि नामों से भी उसे अभिहित किया जाता है; तथापि गुण और धर्म में कुछ अन्तर है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण, धर्म या स्वभाव कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं और जिनकी पर्यायें नहीं होती हैं; उन्हें धर्म कहते हैं। ये धर्म नामक शक्तियाँ जोड़े से होती हैं। जैसे ह्व नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता आदि।

जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं और जिनकी पर्यायें होती हैं; उन्हें गुण कहते हैं। जैसे ह्व आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि; पुद्गल के रूप, रस, गंध आदि।

कुछ शक्तियाँ ऐसी भी होती हैं, जिनकी न तो पर्यायें होती हैं और न जिनमें कोई विरोधाभास होता है। इन शक्तियों को स्वभाव कहते हैं। त्यागोपादानशून्यशक्ति गुण या धर्मरूप न होकर स्वभावरूप है। इसप्रकार शक्तियाँ तीन रूपों में पाई जाती हैं ह्व गुण, धर्म और स्वभाव।

जिन गुणों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, एक वस्तु में उनकी एक साथ सत्ता तो सभी वादी-प्रतिवादी सहज स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु जिनमें विरोध-सा प्रतिभासित होता है, उन्हें स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं। इतर जन उनमें से किसी एक पक्ष को ग्रहण कर पक्षपाती हो जाते हैं।

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ४, पृष्ठ ५०१

अतः अनेकान्त की परिभाषा में परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रकाशन पर विशेष बल दिया गया है।

प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनेक युगल (जोड़े) पाये जाते हैं; अतः वस्तु केवल अनेक गुणों का ही पिण्ड नहीं है; किन्तु परस्पर विरोधी दिखनेवाले अनेक धर्म-युगलों का भी पिण्ड है।

उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों को स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। उन सबका कथन एक साथ सम्भव नहीं है; क्योंकि शब्दों की शक्ति सीमित है। शब्द एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। अतः अनन्त धर्मों में एक विवक्षित धर्म मुख्य होता है, जिसका कि प्रतिपादन किया जाता है, बाकी अन्य सभी धर्म गौण होते हैं; क्योंकि उनके सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा रहा है।

यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं; किन्तु वक्ता की इच्छानुसार होती है। विवक्षा-अविवक्षा वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं। वस्तु में तो सभी धर्म प्रति समय अपनी पूरी हैसियत से विद्यमान रहते हैं, उनमें मुख्य-गौण का कोई प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि वस्तु में तो उन परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मों को अपने में धारण करने की शक्ति सदा ही विद्यमान है; क्योंकि वे तो उस वस्तु में अनादिकाल से विद्यमान हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे।

उनको एक साथ कहने की सामर्थ्य वाणी में न होने से वाणी में विवक्षा-अविवक्षा और मुख्य-गौण का भेद पाया जाता है।

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि सब धर्म एकसाथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है।

वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायेगा, तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है। अतः जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन

करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अतः हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी हैं' हूँ ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है; भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण यह बात कही नहीं जा रही है।

अतः वाणी में स्यात्पद का प्रयोग आवश्यक है, स्यात्पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

भारतवर्ष के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलालजी नेहरू ने भी इस परम सत्य का गहराई से अनुभव किया था। वे राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर की महान कृति 'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय' की प्रस्तावना में पृष्ठ १२ पर लिखते हैं कि हूँ

“इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धान्तों को काम करते देखते हैं। एक तो सातत्य का सिद्धान्त है और दूसरा परिवर्तन का। ये दोनों सिद्धान्त परस्पर-विरोधी से लगते हैं, परन्तु ये विरोधी हैं नहीं। सातत्य के भीतर भी परिवर्तन का अंश है। इसीप्रकार परिवर्तन भी अपने भीतर सातत्य का कुछ अंश लिये रहता है।

असल में, हमारा ध्यान उन्हीं परिवर्तनों पर जाता है, जो हिंसक क्रान्तियों या भूकम्प के रूप में अचानक फट पड़ते हैं। फिर भी, प्रत्येक भूगर्भ-शास्त्री यह जानता है कि धरती की सतह में जो बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं, उनकी चाल बहुत धीमी होती है और भूकम्प से होनेवाले परिवर्तन उनकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ समझे जाते हैं।

इसीतरह क्रान्तियाँ भी धीरे-धीरे होनेवाले परिवर्तन और सूक्ष्म रूपान्तरण की बहुत लम्बी प्रक्रिया का बाहरी प्रमाण मात्र होती हैं। इस दृष्टि से देखने पर, स्वयं परिवर्तन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो परम्परा के आवरण में लगातार चलती रहती है। बाहर से अचल दिखनेवाली परम्परा

१. लोकभारती प्रकाशन, १५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

भी, यदि जड़ता और मृत्यु का पूरा शिकार नहीं बन गयी है, तो धीरे-धीरे वह भी परिवर्तित हो जाती है।”

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में स्याद्वाद का अर्थ इसप्रकार दिया है हूँ

“अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सारी की सारी वस्तु का युगपत् कथन करना अशक्य होने से प्रयोजनवश कभी एक धर्म को मुख्य करके कथन करते हैं और कभी दूसरे को। मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता के अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें, उनका निषेध न होने पावे; हूँ इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करता है।”

कुछ विचारक कहते हैं कि स्याद्वाद शैली में 'भी' का प्रयोग है, 'ही' का नहीं। उन्हें 'भी' में समन्वय की सुगंध और 'ही' में हठ की दुर्गन्ध आती है; पर यह उनका बौद्धिक भ्रम ही है। स्याद्वाद शैली में जितनी आवश्यकता 'भी' के प्रयोग की है, उससे कम आवश्यकता 'ही' के प्रयोग की नहीं। 'भी' और 'ही' का समान महत्त्व है।

'भी' समन्वय की सूचक न होकर 'अनुक्त' की सत्ता की सूचक है और 'ही' आग्रह की सूचक न होकर दृढ़ता की सूचक है। इनके प्रयोग का एक तरीका है और वह है हूँ जहाँ अपेक्षा न बताकर मात्र यह कहा जाता है कि 'किसी अपेक्षा' वहाँ 'भी' लगाना जरूरी है और जहाँ अपेक्षा स्पष्ट बता दी जाती है, वहाँ 'ही' लगाना अनिवार्य है। जैसे हूँ प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। यदि इसी को हम अपेक्षा लगाकर कहेंगे तो इसप्रकार कहना होगा कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य ही है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य ही है।

'भी' का प्रयोग यह बताता है कि हम जो कह रहे हैं, वस्तु मात्र उतनी ही नहीं है, अन्य भी है; किन्तु 'ही' का प्रयोग यह बताता है कि अन्य

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ४, पृष्ठ ४९७

२. 'किसी अपेक्षा' के भाव को स्यात् या कथंचित् शब्द प्रकट करते हैं।

कोणों से देखने पर वस्तु और बहुत कुछ है; किन्तु जिस कोण से यह बात बताई गई है, वह ठीक वैसी ही है; इसमें कोई शंका की गुंजाइश नहीं है।

अतः 'ही' और 'भी' एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। 'ही' अपने विषय के बारे में सब शंकाओं का अभाव कर दृढ़ता प्रदान करती है और 'भी' अन्य पक्षों के बारे में मौन रह कर भी, उनकी सम्भावना की नहीं, निश्चित सत्ता की सूचक है।

'भी' का अर्थ ऐसा करना कि जो कुछ कहा जा रहा है, उसके विरुद्ध भी सम्भावना है ह्व गलत है। सम्भावना अज्ञान की सूचक है अर्थात् यह प्रकट करती है कि मैं नहीं जानता और कुछ भी होगा। जबकि स्याद्वाद, संभावनाविरोध नहीं; निश्चयात्मक ज्ञान होने से प्रमाण है।

'भी' में से यह अर्थ नहीं निकलता कि इसके अतिरिक्त क्या है, मैं नहीं जानता; बल्कि यह निकलता है कि इस समय उसे कहा नहीं जा सकता अथवा उसके कहने की आवश्यकता नहीं है। अपूर्ण को पूर्ण न समझ लिया जाय ह्व इसके लिए 'भी' का प्रयोग है। दूसरे शब्दों में जो बात अंश के बारे में कही जा रही है, उसे पूर्ण के बारे में न जान लिया जाय ह्व इसके लिए 'भी' का प्रयोग है, अनेक मिथ्या एकान्तों के जोड़-तोड़ के लिए नहीं।

इसीप्रकार 'ही' का प्रयोग 'आग्रही' का प्रयोग न होकर इस बात को स्पष्ट करने के लिए है कि अंश के बारे में जो कहा गया है, वह पूर्णतः सत्य है। उस दृष्टि से वस्तु वैसी ही है, अन्य रूप नहीं।

समन्तभद्रादि आचार्यों ने पद-पद पर 'ही' का प्रयोग किया है।^१ 'ही' के प्रयोग का समर्थन तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में इसप्रकार किया है ह्व

“वाक्येऽवधारणं तावदनिष्ठार्थं निवृत्तये।

कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ॥^२

१. सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।

असदेव विपर्यासन्न चेत्र व्यवतिष्ठते ॥ ह्व आप्तमीमांसा, श्लोक १५

२. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अ. १, सूत्र ६, श्लोक ५३

वाक्यों में 'ही' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति और दृढ़ता के लिए करना ही चाहिए, अन्यथा कहीं-कहीं वह वाक्य नहीं कहा गया सरीखा समझा जाता है।^१”

युक्त्यनुशासन श्लोक ४१-४२ में आचार्य समन्तभद्र ने भी इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया है।

इस संदर्भ में सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी लिखते हैं ह्व

“इसी तरह वाक्य में एवकार (ही) का प्रयोग न करने पर भी सर्वथा एकान्त को मानना पड़ेगा; क्योंकि उस स्थिति में अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है। जैसे ह्व 'उपयोग लक्षण जीव का ही है' ह्व इस वाक्य में एवकार (ही) होने से यह सिद्ध होता है कि उपयोग लक्षण अन्य किसी का न होकर जीव का ही है; अतः यदि इसमें से 'ही' को निकाल दिया जाय तो उपयोग अजीव का भी लक्षण हो सकता है।^१”

प्रमाण वाक्य में मात्र स्यात् पद का प्रयोग होता है, किन्तु नय वाक्य में स्यात् पद के साथ-साथ एव (ही) का प्रयोग भी आवश्यक है। 'ही' सम्यक् एकान्त की सूचक है और 'भी' सम्यक् अनेकान्त की।

यद्यपि जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है; तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी मानें तो यह भी तो एकान्त हो जायेगा। अतः जैनदर्शन में अनेकान्त में भी अनेकान्त को स्वीकार किया गया है।

जैनदर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है।

कहा भी है ह्व

“अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥^२

१. जैनन्याय, पृष्ठ ३००

२. स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक १०३

प्रमाण और नय हैं साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है; क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्तस्वरूप एवं अंशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्तरूप सिद्ध है।^१

जैनदर्शन के अनुसार एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का है यथा सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त, सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या एकान्त है और सापेक्ष नय सम्यक् एकान्त है तथा सापेक्ष नयों का समूह अर्थात् श्रुत-प्रमाण सम्यक् अनेकान्त है और निरपेक्ष नयों का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या अनेकान्त है।

कहा भी है ह

“जं वत्थु अणेयन्तं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं ।

सुयणाणेय णएहि य, णिरवेक्खं दीसदे णेव ॥^२

जो वस्तु अनेकान्तरूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्तरूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और नयों की अपेक्षा एकान्तरूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता है।^३

अनेकान्त में अनेकान्त की सिद्धि करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं ह

“यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का सर्वथा लोप किया जाय तो सम्यक् एकान्त के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह, तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा। अतः यदि एकान्त ही स्वीकार कर लिया जावे तो फिर अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्व लोप का प्रसंग प्राप्त होगा।^३”

सम्यगेकान्त नय है और सम्यगनेकान्त प्रमाण।^३ अनेकान्तवाद

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१

२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ. १, सूत्र ६ की टीका

३. वही, अ. १ सूत्र ६ की टीका

सर्वनयात्मक है। जिसप्रकार बिखरे हुए मोतियों को एक सूत्र में पिरो देने से मोतियों का सुन्दर हार बन जाता है; उसीप्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वादरूपी सूत्र में पिरो देने से सम्पूर्ण नय श्रुतप्रमाण कहे जाते हैं।^१

परमागम के बीजस्वरूप अनेकान्त में सम्पूर्ण नयों (सम्यक् एकान्तों) का विलास है, उसमें एकान्तों के विरोध को समाप्त करने की सामर्थ्य है;^२ क्योंकि विरोध वस्तु में नहीं, अज्ञान में है। जैसे ह एक हाथी को अनेक जन्मान्ध व्यक्ति छूकर जानने का यत्न करें और जिसके हाथ में हाथी का पैर आ जाय वह हाथी को खम्भे के समान, पेट पर हाथ फेरनेवाला दीवाल के समान, कान पकड़नेवाला सूप के समान और सँड़ पकड़नेवाला केले के स्तम्भ के समान कहे तो वह सम्पूर्ण हाथी के बारे में सही नहीं होगा; क्योंकि देखा है अंश और कहा गया सर्वांश को।

यदि अंश देखकर अंश का ही कथन करें तो गलत नहीं होगा। जैसे ह यदि यह कहा जाय कि हाथी का पैर खम्भे के समान है, कान सूप के समान हैं, पेट दीवाल के समान है तो कोई असत्य नहीं; क्योंकि यह कथन सापेक्ष है और सापेक्ष नय सत्य होते हैं। अकेला पैर हाथी नहीं है, अकेला पेट भी हाथी नहीं है; इसीप्रकार कोई भी अकेला अंग अंगी को व्यक्त नहीं कर सकता है।

‘स्यात्’ पद के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ जो कथन किया जा रहा है, वह अंश के संबंध में है; पूर्ण वस्तु के संबंध में नहीं। हाथी और हाथी के अंगों के कथन में ‘ही’ और ‘भी’ का प्रयोग इसप्रकार होगा ह

हाथी किसी अपेक्षा दीवाल के समान भी है, किसी अपेक्षा खम्भे समान भी है और किसी अपेक्षा सूप के समान भी है। यहाँ अपेक्षा बताई नहीं गई है, मात्र इतना कहा गया है कि ‘किसी अपेक्षा’; अतः ‘भी’ लगाना आवश्यक हो गया। यदि हम अपेक्षा बताते जावें तो ‘ही’ लगाना

१. स्याद्वादमंजरी, श्लोक ३० की टीका

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २

अनिवार्य हो जायेगा; अन्यथा भाव स्पष्ट न होगा, कथन में दृढ़ता नहीं आयेगी। जैसे हाथी का पैर खम्भे के समान ही है, कान सूप के समान ही हैं और पेट दीवाल के समान ही है।

उक्त कथन अंश के बारे में पूर्ण सत्य है; अतः 'ही' लगाना आवश्यक है तथा पूर्ण के बारे में आंशिक सत्य है; अतः 'भी' लगाना जरूरी है।

जहाँ 'स्यात्' पद का प्रयोग न भी हो तो भी विवेकी जनों को यह समझना चाहिए कि वह अनुक्त (साइलेन्ट) है।

कसायपाहुड़ में इस संबंध में स्पष्ट लिखा है ह

“स्यात् शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रखनेवाला वक्ता यदि स्यात् शब्द का प्रयोग न भी करे तो भी उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतएव स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं करने पर भी कोई दोष नहीं है।

कहा भी है ह स्यात् शब्द के प्रयोग की प्रतिज्ञा का अभिप्राय रखने से 'स्यात्' शब्द का अप्रयोग देखा जाता है।^१”

यद्यपि प्रत्येक वस्तु अनेक परस्पर विरोधी धर्म-युगलों का पिण्ड है; तथापि वस्तु में सम्भाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही पाये जाते हैं, असम्भाव्य नहीं। अन्यथा आत्मा में नित्य-अनित्यत्वादि के समान चेतन-अचेतनत्व धर्मों की सम्भावना का प्रसंग आयेगा।

इस बात को 'धवला' में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह

“प्रश्न : जिन धर्मों का एक आत्मा में एक साथ रहने का विरोध नहीं है, वे रहें; परन्तु सम्पूर्ण धर्म तो एक साथ एक आत्मा में रह नहीं सकते?

उत्तर : कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहना सम्भव है ?

यदि सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मों का एकसाथ

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ४, पृष्ठ ५०१

आत्मा में रहने का प्रसंग आ जायेगा। इसलिए सम्पूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मा में रहते हैं, अनेकान्त का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए; किन्तु जिन धर्मों का जिस आत्मा में अत्यन्त अभाव नहीं, वे धर्म उस आत्मा में किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं।^१”

अनेकान्त और स्याद्वाद का प्रयोग करते समय यह सावधानी रखना अत्यन्त आवश्यक है कि हम जिन परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता वस्तु में प्रतिपादित करते हैं, उनकी सत्ता वस्तु में सम्भावित है भी या नहीं; अन्यथा कहीं हम ऐसा भी न कहने लगे कि कथंचित् जीव चेतन हैं व कथंचित् अचेतन भी। अचेतनत्व की जीव में सम्भावना ही नहीं है; अतः यहाँ अनेकान्त बताते समय अस्ति-नास्ति के रूप में घटाना चाहिए। जैसे ह जीव चेतन (ज्ञान-दर्शन स्वरूप) ही है, अचेतन नहीं।

वस्तुतः चेतन और अचेतन तो परस्पर विरोधी धर्म हैं और नित्यत्व-अनित्यत्व परस्पर विरोधी नहीं, विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म हैं; वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, हैं नहीं। उनकी सत्ता एक द्रव्य में एक साथ पाई जाती है। अनेकान्त परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मों का प्रकाशन करता है।

जिनेन्द्र भगवान का स्याद्वादरूपी नयचक्र अत्यन्त पैनी धार वाला है। इसे अत्यन्त सावधानी से चलाना चाहिए, अन्यथा धारण करनेवाले का ही मस्तक भंग हो सकता है।^२ इसे चलाने के पूर्व नयचक्र चलाने में चतुर गुरुओं की शरण लेना चाहिए।^३ उनके मार्गदर्शन में जिनवाणी का मर्म समझना चाहिए।

१. धवला पु. १, खण्ड १, भाग १, सूत्र ११, पृष्ठ १६७

२. अत्यन्तनिशितधारं, दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।

खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदधानाम् ॥ ह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९

३. गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः। ह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५८

अनेकान्त और स्याद्वाद सिद्धान्त इतना गूढ़ व गम्भीर है कि इसे गइराई से और सूक्ष्मता से समझे बिना इसकी तह तक पहुँचना असम्भव है; क्योंकि ऊपर-ऊपर से देखने पर यह एकदम गलत-सा प्रतीत होता है।

इस संबंध में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक श्री फणिभूषण अधिकारी ने लिखा है ह

“जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है; उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं, उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है।

यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी; किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन-शास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।^१”

हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं ह

“प्राचीन दर्जे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है।^२”

श्री महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य पण्डित स्वामी राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर, संस्कृत कॉलेज, वाराणसी लिखते हैं ह

“मैं कहाँ तक कहूँ, बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है; वह ऐसा किया है, जिसे सुन-देख हंसी आती है। स्याद्वाद यह जैनधर्म का अभेद्य किला है; उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामयी गोले नहीं प्रवेश कर सकते। जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्वसत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।^३”

१. तीर्थकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९२

श्री वी.नि.ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर

२. वही, पृष्ठ ९२

वही

३. वही, पृष्ठ ९२

वही

संस्कृत के उद्भूत विद्वान् डॉ. गंगानाथ झा के विचार भी दृष्टव्य हैं ह

“जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैनसिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है; तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है, जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और जो कुछ अबतक मैं जैनधर्म को जान सका हूँ; उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।^१”

‘स्यात्’ पद का ठीक-ठीक अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसके संबंध में बहुत भ्रम प्रचलित हैं। कोई स्यात् का अर्थ संशय करते हैं, कोई शायद, तो कोई सम्भावना। इसतरह वे स्याद्वाद को शायदवाद, संशयवाद या सम्भावनाववाद बना देते हैं। ‘स्यात्’ शब्द ‘तिङ्न्त’ न होकर ‘निपात’ है। वह सन्देह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है। ‘स्यात्’ शब्द को स्पष्ट करते हुए तार्किकचूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं ह

“वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यं प्रति विशेषणं।

स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तवकेवलिनामपि ॥^२

‘स्यात्’ शब्द निपात है। वाक्यों में प्रमुख यह शब्द अनेकान्त का द्योतक वस्तुस्वरूप का विशेषण है।^३”

शायद, संशय और सम्भावना में एक अनिश्चय है। अनिश्चय अज्ञान का सूचक है। स्याद्वाद में कहीं भी अज्ञान की झलक नहीं है। वह जो कुछ कहता है, दृढ़ता के साथ कहता है; वह कल्पना नहीं करता, सम्भावनाएँ व्यक्त नहीं करता।

१. तीर्थकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९४

श्री वी.नि.ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर

२. आत्ममीमांसा, श्लोक १०३

श्री प्रो. आनन्द शंकर बाबूभाई ध्रुव लिखते हैं ह

“महावीर के सिद्धान्त में बताये गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है; किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिए ह यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में नहीं आ सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना यह अनुचित है।”

आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को केवलज्ञान के समान सर्वतत्त्व-प्रकाशक माना है। भेद मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का है।^१

अनेकान्त और स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तुस्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन करनेवाला होने से आत्मशान्ति के साथ-साथ विश्वशान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है।

इस संबंध में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् एवं राष्ट्रकवि रामधारीसिंह ‘दिनकर’ लिखते हैं ह

“इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।”^२

इनकी उपयोगिता मात्र विश्वशान्ति की दृष्टि से ही नहीं है; अपितु इनके सही स्वरूप समझने से हमारे दैनिक जीवन में होनेवाले सामाजिक

१. तीर्थकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९४ श्री वी.नि.ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर

२. स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।

भेदःसाक्षादसाक्षाच्च, ह्यावस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ ह आप्तमीमांसा, श्लोक १०५

३. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १३७

संघर्ष और पारिवारिक झगड़ों की रोकथाम भी हो सकती है; क्योंकि हमारे जीवन में होनेवाले सम्पूर्ण संघर्षों का एकमात्र कारण यह है कि हम हर वस्तु को अपने ही दृष्टिकोण से देखते हैं। यदि हम उक्त वस्तु के संदर्भ में सामनेवाले का जो दृष्टिकोण है, उसे भी समझें, समझने का प्रयास करें तो प्रतिदिन होनेवाले संघर्षों से बहुत कुछ बच सकते हैं।

आज के जीवन में पीढ़ियों का अन्तर (जनरेशन गेप) एक बहुत बड़ी समस्या है; क्योंकि सामाजिक परिवेश में जितना परिवर्तन विगत (२०वीं) शताब्दी में हुआ है और आज हो रहा है, उतना परिवर्तन विगत अनेक शताब्दियों में भी नहीं हुआ है।

विगत अनेक शताब्दियों तक भारतवासी पगड़ी ही बाँधते रहे। उसके बाद परिवर्तन में अप्रत्याशित तेजी आई और स्थिति यह हो गई कि बाबा पगड़ी बाँधते रहे, पिता टोपी लगाते रहे और पुत्र नंगे शिर होकर नेकटाई पर आ गये; पर आज जो परिवर्तन की रफ्तार है, वह उससे भी तेज है।

मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ कि जो लोग बचपन में पगड़ी बाँधते थे, जवानी में टोपी लगाने लगे और बुढ़ापा आते-आते नंगे शिर हो गये। मैंने ऐसे भी घर देखे हैं कि जहाँ ८० वर्ष की बूढ़ी अम्मा घूँघट डालती है, पर प्रौढ़ महिलायें घूँघट की झंझट से मुक्त हो गई हैं; फिर भी उनका माथा साड़ी के पल्लू से कुछ-कुछ ढका ही रहता है; पर आधुनिक बहुये तो सलवार शूट में ही नहीं, तंग जीन्स से मंडित दृष्टिगोचर होती हैं।

वेष परिवर्तन के अनुरूप विचारों में भी परिवर्तन हो रहा है। इसप्रकार पीढ़ियों के अन्तर (जनरेशन गेप) ने एक विकट रूप धारण कर लिया है।

इसप्रकार तेजगति से होनेवाले परिवर्तनों से पीढ़ियों की विचारधारा में जो बहुत बड़ा अन्तर दिखाई दे रहा है; उसके कारण मतभेद भी बहुत बढ़ रहे हैं, जो मनभेद का कारण बनकर गृह कलह और सामाजिक

विद्रोह का कारण बन रहे हैं। घर टूट रहे हैं और समाज बिखर रहा है और उनमें अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

ऐसी विषम स्थिति में भी यदि हमने स्याद्वाद की शरण नहीं ली, सापेक्ष दृष्टिकोण को नहीं अपनाया, दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास नहीं किया; तो स्थिति इतनी भयानक हो सकती है कि हम जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

विज्ञान के विकास ने आज क्षेत्र और काल की दूरी को समाप्त सा ही कर दिया है। विगत काल में हम जहाँ वर्षों में भी नहीं पहुँच सकते थे, आज वहाँ घंटों में पहुँच जाते हैं। एक दिन वह था कि जब हम सौ-दो सौ मीटर दूर बैठे व्यक्ति से भी बात नहीं कर सकते थे; आज हजारों किलोमीटर दूर बैठे व्यक्ति से उसीप्रकार बात करते हैं, जिसप्रकार सामने बैठे व्यक्ति से कर रहे हों।

इसप्रकार आज की दुनिया बहुत छोटी हो गई है और रहन-सहन और विचारों की विभिन्नता का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है।

विभिन्न रीति-रिवाज और विभिन्न विचारोंवाले भूलोक में हम सभी को मिल-जुलकर एकसाथ ही रहना है और उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे जीवन में सहिष्णुता का विकास हो; क्योंकि उसके बिना सह-अस्तित्व संभव नहीं है।

यदि हमने एक-दूसरे के अस्तित्व और विचारों को चुनौती दिये बिना रहना नहीं सीखा तो हमें निरंतर अस्तित्व के संघर्ष में ही जुटे रहना होगा।

यह तो आप जानते ही हैं कि संघर्ष अशान्ति का कारण है और उसमें हिंसा अनिवार्य है। हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। इसप्रकार हिंसा और प्रतिहिंसा का कभी समाप्त न होनेवाला दुष्चक्र चलता रहता है।

यदि हम शान्ति से रहना चाहते हैं तो हमें दूसरों के अस्तित्व और

विचारों के प्रति सहनशील बनना होगा। सहनशीलता सहिष्णुता का ही पर्यायवाची शब्द है।

यदि हम इस लोक में सुख-शान्ति से रहना चाहते हैं तो हमें एक ही वस्तु को, एक ही स्थिति को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखना सीखना होगा, तदनुसार अपने जीवन को ढालना होगा, दूसरे के विचारों को प्रति सहिष्णु बनना होगा; क्योंकि सुख-शान्ति से रहने का एक मात्र यही उपाय है।

एक ही वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखने का नाम ही स्याद्वाद है और परिवार से लेकर सम्पूर्ण विश्व तक फैली अनन्त समस्याओं का समाधान भी इस स्याद्वादी दृष्टिकोण में समाहित है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनेकान्त और स्याद्वाद जैनदर्शन के ऐसे सिद्धान्त हैं कि जिनको समझे बिना जैनदर्शन को नहीं समझा जा सकता।

इनकी सही समझ से हमें एक-दूसरे को समझने में भी सहयोग मिलता है। अतः जैनदर्शन का मर्म जानने के लिए और जीवन में आनेवाले निरन्तर संघर्षों से बचने के लिए हमें इन विषयों को गहराई से समझने का प्रयास करना चाहिए।

सम्पूर्ण जगत इन सर्वहितकारी सिद्धान्तों को गहराई से समझ कर, जीवन में अपना कर सहज सुख-शान्ति को प्राप्त हो ह्व इस मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद आदि की उपस्थिति आत्मज्ञान में बाधक नहीं है। इनकी उपस्थिति में आत्मज्ञान हो जाता है, पर जबतक ज्ञान पर को ज्ञेय बनाता रहेगा, तबतक आत्मज्ञान सम्भव नहीं है। ज्ञान (आत्मा) का ज्ञान करने के लिए ज्ञान (प्रकट ज्ञान पर्याय) को ज्ञान (आत्मा) में लगाना होगा।

— डॉ. भारिल्ल की डायरी से

श्रावक की जीवनधारा

समस्त जगत दो धाराओं में विभक्त है – एक भौतिक दूसरी आध्यात्मिक। भौतिक धारा का प्रवाह पूर्ण स्वच्छन्दता की ओर अग्रसर है, जिसकी चरम परिणति से सारा विश्व त्रस्त है। आध्यात्मिक ज्योति भी अपनी क्षीणतम स्थिति में टिमटिमा रही है। दोनों की स्थिति क्या है, इसकी अपेक्षा दोनों की परिणति क्या है, इसका निर्णय अधिक महत्व रखता है।

प्रश्न यह नहीं है कि कौन-सी धारा तेज है और कौन-सी मन्द? प्रश्न यह है कि दोनों की प्रकृति क्या है?

भौतिक धारा भोगमय धारा है। असीम और अनन्त भोग ही उसका लक्ष्य है। आध्यात्मिक धारा त्यागमय धारा है और सर्व पर का त्याग एवं एक आत्मनिष्ठता ही उसका सर्वस्व है।

दोनों ही धाराएँ एकदम परस्पर विरुद्ध पथानुगामी हैं। एक कहती है कि भोग और आनन्द में सीमा कैसी, सीमा की बाधा में रहते हुए तृप्ति कहाँ तथा तृप्ति बिना आनन्द कैसा; दूसरी कहती है कि भोग में आनन्द कैसा, आनन्द तो आत्मा की वस्तु है; अतः आनन्द प्राप्ति के मार्ग में भोग का कोई स्थान नहीं है। तात्पर्य यह है कि भौतिक धारा को भोग में तनिक भी मर्यादा स्वीकार नहीं तथा आध्यात्मिक धारा को भोग की अणु मात्र भी उपस्थिति स्वीकार नहीं है। एक निर्बाध भोग चाहती है, दूसरी अणुमात्र भी भोग स्वीकार नहीं करती। एक का स्वामी उन्मुक्त भोगी होता है और दूसरे का स्वामी पूर्ण विरागी योगी।

परस्पर विरुद्ध पथानुगामिनी उक्त दोनों धाराओं के अद्भुत सम्मिलन का नाम ही श्रावक धर्म की स्थिति है। श्रावक भोगों का पूर्ण त्यागी न होकर भी उनकी मर्यादा अवश्य स्थापित करता है। श्रावक धर्म योग पक्ष और भोग पक्ष का अस्थायी समझौता है, जिसकी धारा में पंचाणुव्रत और सप्तशील व्रत हैं।

भोग पक्ष कहता है अपनी सुख (भोग) सामग्री की प्राप्ति के लिए कितनी भी हिंसा क्यों न करनी पड़े, करनी चाहिए। तब योग (अध्यात्म) पक्ष कहता है, हिंसा से प्राप्त होने वाला भोग हमें चाहिए ही नहीं अथवा भोग स्वयं हिंसा है; अतः हमें उसकी आवश्यकता ही नहीं है। सुख हमारे भीतर है, उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है।

तब एक समझौता होता है कि भाई यह सही है कि हमें भोगों की आवश्यकता नहीं, पर वर्तमान कमजोरी के कारण जो भौतिक अनिवार्य भोजनपानादि की आवश्यकतायें हैं; उन्हें पूर्ण करने हेतु कुछ सामग्री तो चाहिए ही। इसीप्रकार भोगों की अनन्त इच्छायें तो कभी पूर्ण हो नहीं सकतीं; अतः अमर्यादित भोगों को इकट्ठा करने के लिए हिंसा की अनुमति तो दी नहीं जा सकती। मध्यम मार्ग के रूप में गृहस्थ जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यक आरम्भी, उद्योगी एवं विरोधी हिंसाभाव को छोड़कर बाकी हिंसा भाव का पूर्णतः त्याग करना चाहिए।

इसी का नाम अहिंसाणुव्रत है।

इसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के बारे में भी जानना चाहिए। गृहस्थी को न्यायपूर्वक चलाने के लिए यदि कोई अनिवार्य सूक्ष्म असत्य वचन का आश्रय लेना पड़े तो अलग बात है, अन्यथा स्थूलरूप से समस्त असत्य वचन बोलने के भाव का त्याग होना ही सत्याणुव्रत है।

जिसका कोई स्वामी न हो, ऐसी मिट्टी और जल को छोड़कर और कोई भी पदार्थ उसके लौकिक स्वामी की अनुमति बिना ग्रहण करने का भाव नहीं होना अचौर्याणुव्रत है। धर्मानुकूल विवाहित स्वपत्नी अथवा स्वपति को छोड़कर अन्य में रतिभाव का न होना ही ब्रह्मचर्याणुव्रत है। इसीप्रकार अति आवश्यक सामग्री को मर्यादापूर्वक रखकर और समस्त परिग्रह को रखने और रखने के भाव का त्याग कर देना ही परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत है।

उक्त पाँचों व्रतों को ही पंचाणुव्रत कहते हैं। उक्त पंचाणुव्रतों के साथ

ही श्रावक के सप्तशीलव्रत भी कहे गए हैं। जिनमें तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। उनकी भी स्थिति यही है। जब तक कोई गृहस्थ है, तब तक तत्सम्बन्धी व्यवहार व्यापारादि भी सम्भव हैं; किन्तु उसकी भावना निरन्तर उनसे मुक्त होने की रहती है। उक्त भावना की सिद्धि हेतु वह अपनी बाह्य परिणति को और भी सीमित करता है। वह मर्यादा में मर्यादा बनाता चला जाता है। उक्त प्रक्रिया को ही गुणव्रत कहते हैं जो तीन प्रकार के होते हैं – (1) दिग्व्रत (2) देशव्रत (3) अनर्थदण्डव्रत।

कषायांश कम हो जाने के कारण अपने जीवन को नियमित करने के आकांक्षी ज्ञानी श्रावक का जीवन भर के लिए दशों दिशाओं के प्रसिद्ध स्थानों के आधार पर सीमा निश्चित कर लेना और जीवन-पर्यन्त उस सीमा के बाहर नहीं जाना ही दिग्व्रत है; तथा दिग्व्रत में की हुई सीमा में घड़ी-घण्टा, दिन, सप्ताह, माह, वर्षादि काल की सीमापूर्वक (दिग्व्रत में की हुई विशाल क्षेत्र सम्बन्धी सीमा में) और भी कमी कर लेना ही देशव्रत है – जैसे मैं एक वर्ष तक राजस्थान के, एक माह तक जयपुर के, एक दिन तक अपने मकान या मन्दिर के बाहर नहीं जाऊँगा।

बिना प्रयोजन हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करने को अनर्थदण्ड कहते हैं और उस प्रवृत्ति के त्यागरूप भाव को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

इसप्रकार उक्त तीन गुणव्रत अणुव्रतों की अभिवृद्धि में सहायक हैं।

आत्मस्वभाव की स्थिरता प्राप्ति हेतु शिक्षारूप शिक्षाव्रत हैं, जो चार प्रकार के हैं – (1) सामायिक (2) प्रोषधोपवास (3) भोगोपभोग परिमाणव्रत (4) अतिथिसंविभाग।

सम्पूर्ण द्रव्यों में राग-द्वेष छोड़कर समत्व भाव का आलम्बन करके आत्मतत्त्व की प्राप्ति करना ही सामायिक है। समय शब्द का अर्थ यहाँ आत्मा है; अतः आत्मलीनता का नाम ही सामायिक है। ज्ञानी श्रावक आत्मज्ञानी एवं आत्मरुचि वाला होने से दिन में प्रातः, दोपहर और सायं को करीब एक घण्टे आत्मचिन्तन अवश्य करता है। इसे ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

आत्मस्वभाव के समीप ठहरना यानी आत्मलीनता ही वास्तविक उपवास (उप=समीप, वास=ठहरना) है। इसे निषेधात्मक विधि से यों भी कह सकते हैं कि कषाय, विषय और आहार के त्याग का नाम उपवास है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को सर्वारंभ छोड़कर उपवास करना ही प्रोषधोपवास कहलाता है।

प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कषाय कम करके भोग और उपभोग सामग्री का परिमाण (मात्रा) घटाना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है।

पंचेन्द्रिय के विषय में जो एक बार भोगने में आवे उसे भोग और जो बार-बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं।

मुनि, व्रतीश्रावक व अव्रतीश्रावक इन तीन प्रकार के पात्रों को अपने लिए बनाए गए पवित्र भोजन में से विभाग करके विधिपूर्वक दान देना अतिथि संविभागव्रत है।

उक्त 12 व्रतों को निरतिचार पालन करने वाला ही व्रतीश्रावक कहलाता है।

उक्त व्रतों में आस्था होने पर तथा इनके पालन में प्रयत्नशील रहने पर भी जो इन्हें निरतिचार (निर्दोष) पालन नहीं कर पाते हैं, उन्हें अव्रतीश्रावक कहते हैं।

ज्ञानीश्रावक की स्थिति अस्थाई युद्धविराम जैसी स्थिति है। उसके अन्तर में निरन्तर राग और विराग का एक प्रकार का अन्दर्द्वन्द्व चलता रहता है। उसमें राग के प्रबल होते ही वह अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगता है और विराग पक्ष के सबल होने की स्थिति में भोगों का सर्वथा त्यागी मुनि बन जाता है।

इस तरह देखा जाय तो श्रावक की स्थिति न तो भोगी की है और न वह पूर्णतः त्यागी की ही है। वह भोग और त्याग की विचित्र अर्न्तभूमिका में विचरण करने वाला साधक आत्मा है।

तीर्थकर भगवान महावीर

भगवान महावीर का जीवन अब पुराणों की गाथा मात्र नहीं रहा, उन्हें अब इतिहासकारों ने ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में स्वीकार कर लिया है। महात्मा गांधी ने उन्हें 'अहिंसा के अवतार' के रूप में याद किया है।

जैन मान्यतानुसार भगवान अनन्त होते हैं। प्रत्येक आत्मा भगवान बन सकता है, पर तीर्थकर एक युग में व एक क्षेत्र में चौबीस ही होते हैं।

प्रत्येक तीर्थकर, भगवान तो नियम से होते हैं; पर प्रत्येक भगवान, तीर्थकर नहीं। तीर्थकर हुए बिना भी भगवान हो सकते हैं। जिससे संसार-सागर तिरा जाय उसे तीर्थ कहते हैं और जो ऐसे तीर्थ को करें अर्थात् संसार-सागर से पार उतरने का मार्ग बतावे, उसे तीर्थकर कहते हैं।

तीर्थकर भगवान महावीर भरतक्षेत्र व इस युग के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थकर थे। उनसे पूर्व ऋषभदेव व आदि 23 तीर्थकर और हो चुके थे। वे जैनधर्म के संस्थापक नहीं, वरन् एक प्रबल प्रचारक थे।

जैनधर्म कोई मत या सम्प्रदाय नहीं है, वह तो वस्तु का स्वरूप है; वह एक तथ्य है, परम सत्य है। उस परम सत्य को प्राप्त कर न केवल नर से नारायण, अपितु पशु से परमेश्वर बना जा सकता है।

भगवान महावीर का जीवन अहिंसा के आधार पर मानव जीवन के चरम विकास की कहानी है। क्षत्रिय राजकुमार होने पर भी उन्होंने कभी विश्व-विजय के स्वप्न नहीं देखे। बाहरी आयुधों से दूसरों को जीतने में उन्हें जीत दिखाई नहीं दी। उनका विचार था कि अपने अन्तर में उठने वाली मोह-राग-द्वेष की वृत्तियों को जीतना ही सच्ची जीत है।

अतः उन्होंने अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा मोह-राग-द्वेष का अभाव कर ज्ञान का पूर्ण विकास करना ही अपना लक्ष्य बनाया और उस दिशा में

अपूर्व पुरुषार्थ भी किया। फलतः वे पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ बने तथा भगवान कहे जाने लगे।

जो वीतरागी और सर्वज्ञ हो वही भगवान है। बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए और वीतरागी बने कोई भगवान नहीं हो सकता।

जैन मान्यतानुसार भगवान जन्मते नहीं, बनते हैं। जन्म से कोई भगवान नहीं होता। महावीर भी जन्म से भगवान न थे। जन्म के समय तो वे हम और आप जैसे मानव ही थे। भगवान तो वे बाद में बने, जब उन्होंने अपने को जीता। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है।

उन्होंने स्वयं कहा है – अपने को जीत लिया तो जग जीत लिया और अपने को जान लिया तो जग जान लिया।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जितने गूढ़, गंभीर व ग्राह्य हैं; उनका जीवन उतना ही सादा, सरल एवं सपाट है; उसमें विविधताओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं।

उनकी जीवन-गाथा मात्र इतनी ही है कि वे आरंभ के तीस वर्ष वैभव और विलास के बीच जल से भिन्न कमलवत रहे। बीच के बारह वर्ष जंगल में परम मंगल की साधना में एकान्त आत्म-आराधना-रत रहे और अन्तिम 30 वर्ष प्राणीमात्र के कल्याण के लिए सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन, प्रचार व प्रसार करते रहे।

महावीर का वर्तमान जीवन घटना-बहुल नहीं है। घटनाओं में उनके व्यक्तित्व को खोजना भी व्यर्थ है। ऐसी कौनसी लौकिक घटना शेष है, जो उनके अनन्त पूर्वभवों में उनके साथ न घटी हो। यदि घटनाएँ ही देखना है तो उनके पूर्व भवों में देखें।

महावीर का जन्म वैशाली गणतंत्र के प्रसिद्ध राजनेता लिच्छवि राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के उदर से कुण्डग्राम में हुआ था। उनकी

माँ वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष राजा चेटक की पुत्री थीं। वे आज से 2600 वर्ष पूर्व (599ई. पूर्व) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन नाथ (ज्ञातृ) वंशीय क्षत्रिय कुल में जन्मे थे। उनके माता-पिता ने उनको नित्य वृद्धिगत होते देख उनका नाम वर्द्धमान रखा।

बालक वर्द्धमान जन्म से ही स्वस्थ, सुन्दर एवं आकर्षक व्यक्तित्व के धनी थे। वे दोज के चन्द्रमा की भाँति वृद्धिगत होते हुए अपने वर्द्धमान नाम को सार्थक करने लगे। उनके रूप-सौन्दर्य का पान करने के लिए सुरपति (इन्द्र) ने हजार नेत्र बनाये थे।

वे आत्मज्ञानी, विचारवान्, विवेकी और निर्भीक बालक थे। डरना तो उन्होंने सीखा ही न था। वे साहस के पुतले थे। अतः उन्हें बचपन से ही वीर, अतिवीर कहा जाने लगा था। आत्मज्ञानी होने से उन्हें सन्मति भी कहा जाता था। उनके पाँच नाम प्रसिद्ध हैं – वीर, अतिवीर, सन्मति, वर्द्धमान और महावीर।

वे प्रत्युत्पन्नमति थे और विपत्तियों में अपना सन्तुलन नहीं खोते थे। एक दिन बालक वर्द्धमान अन्य राजकुमारों के साथ क्रीड़ावन में खेल रहे थे। इतने में ही एक भयंकर काला सर्प आया और क्रोधावेश में वीरों को भी कंपित कर देनेवाली फुंकार करने लगा। अपने को विषम स्थिति में पाकर अन्य बालक तो भय से कांपने लगे पर धीर-वीर बालक वर्द्धमान को वह भयंकर नागराज विचलित न कर सका। महावीर को अपनी ओर निर्भय और निःशंक आता देख नागराज निर्मद होकर स्वयं अपने रास्ते चलता बना।

इसीप्रकार एक बार एक हाथी मदोन्मत्त हो गया और गजशाला के स्तम्भ को तोड़कर नगर में विप्लव मचाने लगा। सारे नगर में खलबली मच गई। सभी लोग घबड़ा कर यहाँ-वहाँ भागने लगे, पर राजकुमार वर्द्धमान ने अपना धैर्य नहीं खोया तथा शक्ति और युक्ति से शीघ्र ही गजराज पर काबू पा लिया। राजकुमार वर्द्धमान की वीरता व धैर्य की

चर्चा नगर में सर्वत्र होने लगी।

वे प्रतिभासम्पन्न राजकुमार थे। बड़ी से बड़ी समस्याओं का समाधान चुटकियों में कर दिया करते थे। वे शान्त प्रकृति के तो थे ही, युवावस्था में प्रवेश करते ही उनकी गंभीरता और बढ गई; वे अत्यन्त एकान्तप्रिय हो गये। वे निरंतर चिन्तवन में ही लगे रहते थे और गूढ तत्त्वचर्चाएँ किया करते थे। तत्त्व-संबंधी बड़ी से बड़ी शंकाएँ तत्त्व-जिज्ञासु उनसे करते थे और बातों ही बातों में वे उनका समाधान कर देते थे।

बहुत-सी शंकाओं का समाधान तो उनकी सौम्य आकृति ही कर देती थी। बड़े-बड़े ऋषिगणों की शंकाएँ भी उनके दर्शनमात्र से ही शांत हो जाती थीं। वे शंकाओं का समाधान न करते थे, वरन् स्वयं समाधान थे।

एक दिन वे राजमहल की चौथी मंजिल पर एकान्त में विचार-मग्न बैठे थे। उनके बाल-साथी उनसे मिलने को आए और माँ त्रिशला से पूछने लगे – “वर्द्धमान कहाँ है?”

गृहकार्य में संलग्न माँ ने सहज ही कह दिया – “ऊपर”

सब बालक ऊपर को दौड़े और हाँफते हुए सातवीं मंजिल पर पहुँचे, पर वहाँ वर्द्धमान को न पाया। जब उन्होंने स्वाध्याय में संलग्न राजा सिद्धार्थ से वर्द्धमान के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने बिना गर्दन उठाये ही कह दिया – “नीचे।”

माँ और पिता के परस्पर विरुद्ध कथनों को सुनकर बालक असमंजस में पड़ गए। अन्ततः उन्होंने एक-एक मंजिल खोजना आरम्भ किया और चौथी मंजिल पर वर्द्धमान को विचारमग्न बैठे पाया।

सब साथियों ने उलाहने के स्वर में कहा – “तुम यहाँ छिपे-छिपे दार्शनिकों की सी मुद्रा में बैठे हो और हमने सातों मंजिलें छान डालीं।”

“माँ से क्यों नहीं पूछा?” वर्द्धमान ने सहज प्रश्न किया।

साथी बोले, “पूछने से ही तो सब कुछ गड़बड़ हुआ। माँ कहती हैं

– “ऊपर” और पिताजी, “नीचे।” कहाँ खोजें? कौन सत्य है?”

वर्द्धमान ने कहा – “दोनों सत्य हैं। मैं चौथी मंजिल पर होने से माँ की अपेक्षा ‘ऊपर’ और पिताजी की अपेक्षा ‘नीचे’ हूँ; क्योंकि माँ पहली मंजिल और पिताजी सातवीं मंजिल पर हैं। इतना भी नहीं समझते? ऊपर-नीचे की स्थिति सापेक्ष है। बिना अपेक्षा ऊपर-नीचे का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तु की स्थिति, पर से निरपेक्ष होने पर भी उसका कथन सापेक्ष होता है। प्रतिपादन की इसी शैली को ही तो स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वाद एक ऐसी शैली है, जिसमें कहीं किसी को कोई विरोध नहीं आ सकता। यह सर्व समाधानकारक एवं सर्व समन्वयसंयुक्त वाणी है।”

इसप्रकार बालक वर्द्धमान स्याद्वाद जैसे गहन सिद्धान्तों को बालकों को भी सहज समझा देते थे।

वे बड़े धीर-वीर क्षत्रिय युवक थे। वे चाहते तो राजा बन सकते थे। प्रजा को सता कर अपना राजकोष भर सकते थे और उसके बल पर एक बड़ी भारी सेना रखकर बहुत से हरे-भरे देशों को उजाड़ बनाकर महाराजा भी बन सकते थे। पर यह सब-कुछ उन्हें इष्ट न था।

उस युग में बाह्य वातावरण हिंसा से व्याप्त था। धर्म के नाम पर भी हिंसा ताण्डव-नृत्य कर रही थी। यज्ञों में पशुओं की बलि तो साधारण बात हो गई थी, नरमेघ यज्ञ तक होने लगे थे। धर्म के ठेकेदार स्वर्ग में भेजने के बहाने धर्म के नाम पर निरीह पशुओं और असहाय मानवों को होमने लगे थे।

अहिंसा के अवतार महावीर का अपने को उक्त वातावरण में खपा पाना सम्भव न था। वे सबको सन्मार्ग दिखाना चाहते थे; किन्तु दूसरों को समझाने के पूर्व वे अपने ज्ञान का पूर्ण विकास कर लेना चाहते थे। बाह्य हिंसा से जगत् को रोकने के पहले वे अपने अन्तर में विद्यमान राग-द्वेष रूप भावहिंसा को पूर्ण समाप्त कर देना चाहते थे। अतः उन्होंने गृह त्याग कर सन्यास लेने का विचार किया।

वे महावीर तो बनना चाहते थे; पर हिंसा, अत्याचार, परपीड़न, संहार और क्रूरता के नहीं; वरन् अहिंसा और शांति के महावीर बनना चाहते थे।

दुनियाँ ने उन्हें अपने रंग में रंगना चाहा; पर आत्मा के रंग में सर्वांग सराबोर महावीर पर दुनियाँ का रंग न चढ़ा। यौवन ने अपने प्रलोभनों के पासे फँके; किन्तु उसके भी दाँव खाली गये। माता-पिता की ममता ने उन्हें रोकना चाहा; पर माँ के आँसुओं की बाढ़ भी उन्हें बहा न सकी।

उनके रूप सौन्दर्य एवं बल-विक्रम से प्रभावित हो अनेक राजागण अपनी अप्सराओं के सौन्दर्य को लज्जित कर देनेवाली कन्याओं की शादी उनसे करने के प्रस्ताव लेकर आये; पर अनेक राजकन्याओं के हृदय में वास करनेवाले महावीर का मन उन कन्याओं में न था। माता-पिता ने भी उनसे शादी करने का बहुत आग्रह किया; पर वे तो इन्द्रिय-निग्रह का निश्चय कर चुके थे। चारों ओर से उन्हें गृहस्थी के बन्धन में बाँधने के अनेक यत्न किये गए, पर वे अबन्ध-स्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर संसार के सर्व बन्धनों से मुक्त होने का निश्चय कर चुके थे। जो मोह-बन्धन तोड़ चुका हो उसे कौन बाँध सकता था?

परिणास्वरूप तीस वर्षीय भरे यौवन में मंगसिर कृष्ण दशमी के दिन उन्होंने घर-बार छोड़ा। नग्न दिगम्बर हो निर्जन वन में आत्मसाधना-रत हो गए। उनके तप (दीक्षा) कल्याण के शुभ प्रसंग पर लौकान्तिक देवों ने आकर विनयपूर्वक उनके इस कार्य की भक्तिपूर्वक प्रशंसा की।

मुनिराज वर्द्धमान मौन रहते थे, किसी से बातचीत नहीं करते थे। निरन्तर आत्म-चिन्तन में ही लगे रहते थे। यहाँ तक कि स्नान और दन्तधोवन के विकल्प से भी परे थे। शत्रु और मित्र में समभाव रखनेवाले मुनिराज महावीर गिरि-कन्दराओं में वास करते थे। शीत, ग्रीष्म, वर्षादि ऋतुओं के प्रचंड वेग से वे तनिक भी विचलित न होते थे।

उनकी सौम्य मूर्ति, स्वाभाविक सरलता, अहिंसामय जीवन एवं

शांत स्वभाव का प्रभाव वन्यपशुओं पर भी पड़ता था और वे स्वभावगत वैर-विरोध छोड़ साम्यभाव धारण करते थे। अहि-नकुल तथा गाय और शेर एक घाट पानी पीते थे। जहाँ वे ठहरते, वातावरण शान्तिमय हो जाता था।

कभी कदाचित् भोजन का विकल्प उठता तो अनेक अटपटी प्रतिज्ञायें लेकर वे भोजन के लिए समीपस्थ नगर की ओर जाते। यदि कोई श्रावक उनकी प्रतिज्ञाओं के अनुरूप शुद्ध सात्त्विक आहार नवधा भक्तिपूर्वक देता तो अत्यन्त सावधानीपूर्वक खड़े-खड़े निरीह भाव से ग्रहण कर शीघ्र वन को वापिस चले जाते थे। मुनिराज महावीर का आहार एक बार अति विपन्नावस्था को प्राप्त सती चंदनबाला के हाथ से भी हुआ था।

इसप्रकार अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते बारह वर्ष बीत गए। 42 वर्ष की अवस्था वैशाख शुक्ला दशमी के दिन आत्म-निमग्नता की दशा में उन्होंने अन्तर में विद्यमान सूक्ष्म राग का भी अभाव कर पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त कर ली। पूर्ण वीतरागता प्राप्त होते ही उन्हें परिपूर्ण ज्ञान की भी प्राप्ति हुई। मोह-राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को पूर्णतया जीत लेने से वे सच्चे महावीर बने। पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ होने से वे भगवान कहलाए। उसी समय तीर्थंकर नामक महापुण्योदय से उन्हें तीर्थंकर पदवी प्राप्त हुई और वे तीर्थंकर भगवान महावीर के रूप में विश्रुत हुए।

उसके बाद उनका तत्त्वोपदेश होने लगा। उनकी धर्मसभा को 'समवशरण' कहा जाता है। उसमें प्रत्येक प्राणी को जाने का अधिकार प्राप्त था। छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं था। जाति-पाँति को कोई स्थान प्राप्त न था। भगवान महावीर ने जातिगत श्रेष्ठता को कभी महत्त्व नहीं दिया। उनके अनुसार श्रेष्ठत्व का मापदण्ड मानव के आचार और विचार हैं।

आचार शुद्धि के लिए अहिंसा और विचार शुद्धि के लिए अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण आवश्यक हैं। जिसका आचार अहिंसक है,

जिसने विचार में वस्तु-तत्त्व को स्पर्श किया है तथा जो अपने में उतर चुका है; चाहे वह चांडाल ही क्यों न हों, वह मानव ही नहीं, देव से भी बढ़कर है।

उनकी धर्मसभा में राजा-रंक, गरीब-अमीर, गोरे-काले सब मानव एक साथ बैठकर धर्म श्रवण करते थे। यहाँ तक कि उसमें मानवों-देवों के साथ-साथ पशुओं के बैठने की भी व्यवस्था थी और बहुत से पशुगण भी शान्तिपूर्वक धर्म श्रवण करते थे।

सर्वप्राणी-समभाव जैसा महावीर की धर्मसभा में प्राप्त था; वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। महावीर के धर्मशासन में महिलाओं को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। उनके द्वारा स्थापित चतुर्विध संग में मुनि-संघ और श्रावक-संघ के साथ-साथ आर्यिका-संघ और श्राविका-संघ भी थे।

अनेक विरोधी विद्वान भी उनके उपदेशों से प्रभावित होकर अपनी परम्पराओं को त्याग उनके शिष्य बने। प्रमुख विरोधी विद्वान इन्द्रभूति गौतम तो उनके पट्ट शिष्यों में से हैं। वे ही उनके प्रथम गणधर बने जो कि गौतम स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुधर्म स्वामी आदि और भी अनेक गणधर थे। श्रावक शिष्यों में मगध सम्राट महाराज श्रेणिक (बिम्बसार) प्रमुख थे।

लगातार तीस वर्ष तक सारे भारतवर्ष में उनका विहार होता रहा। उनका उपदेश जन-भाषा में होता था। उनके उपदेश को दिव्यध्वनि कहा जाता है। उन्होंने अपनी दिव्यवाणी में पूर्णरूप से आत्मा की स्वतंत्रता की घोषणा की।

उनका कहना था कि प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, कोई किसी के आधीन नहीं है। पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने का मार्ग स्वावलंबन है। अपने बल पर ही स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है। अनन्त सुख और स्वतंत्रता भीख में प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं हैं और न उसे दूसरों के बल पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

सब आत्माएँ स्वतंत्र भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं; पर वे एक-सी अवश्य हैं; बराबर हैं, कोई छोटी-बड़ी नहीं। अतः उन्होंने कहा –

(1) अपने समान दूसरी आत्माओं को जानो।

(2) सब आत्माएँ समान हैं, पर एक नहीं।

(3) यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करें तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है।

(4) प्रत्येक प्राणी अपनी भूल से स्वयं दुःखी है और अपनी भूल सुधार कर सुखी भी हो सकता है।

(5) भगवान् जगत के तटस्थ ज्ञाता-दृष्टा होते हैं, कर्ता-धर्ता नहीं।

भगवान् महावीर का सर्वोदय, वर्गोदय के विरुद्ध एक वैचारिक क्रांति है। जिसमें सबका उदय हो वही सर्वोदय है। वे मानव मात्र का ही नहीं, प्राणीमात्र का उदय चाहते थे। धर्म के सर्वोदय स्वरूप का तात्पर्य सर्व जीव समभाव और सर्व जाति समभाव से है। सब जीवों की उन्नति के समान अवसरों की उपलब्धि ही सर्वोदय है।

दूसरों का बुरा चाहकर कोई अपना भला नहीं कर सकता है। सामाजिक जीवन में विषमता रहते कभी कोई वर्ग सुखी और शान्त नहीं रह सकता। यह कदापि नहीं चल सकता कि एक ओर तो असीम भोग-सामग्री सहज ही उपलब्ध हो और दूसरी ओर श्रम करते हुए भी जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुएँ भी उपलब्ध न हो सकें।

उसके लिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रह और अल्पपरिग्रह की व्यवस्था को उपादेय कहा, पर उक्त व्यवस्था की स्थापना अहिंसात्मक ढंग से ही होनी चाहिए।

भगवान् महावीर ने अहिंसा को परमधर्म घोषित किया है। सामाजिक जीवन में विषमता रहते अहिंसा नहीं पनप सकती। अतः अहिंसा के सामाजिक प्रयोग के लिए जीवन में समन्वय-वृत्ति, सह-अस्तित्व की

भावना एवं सहिष्णुता और समताभाव पर जोर दिया, तो वैचारिक हिंसा से बचने के लिए अनेकान्त का समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया।

भगवान् महावीर ने सदा ही अहिंसात्मक आचरण पर जोर दिया है। जैन आचरण छुआछूत-मूलक न होकर, जिसमें हिंसा न हो या कम से कम हिंसा हो, के आधार पर निश्चित होता है। पानी छान कर पीना, रात्रि-भोजन नहीं करना, मद्य-मांस का सेवन नहीं करना आदि समस्त आचरण, अहिंसा को लक्ष्य में रखकर ही अपनाये गये हैं।

महावीर ने जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। वे योग्यता-मूलक समाज-व्यवस्था में विश्वास रखते थे; क्योंकि व्यक्ति की ऊँचाई का आधार उसकी योग्यता और आचार-विचार है, न कि जन्म। जन्म से ही छोटे-बड़े का भेद करना भी हिंसात्मक आचरण है।

आज हमने मानव-मानव के बीच अनेक दीवारें खड़ी कर ली हैं। ये दीवारें प्राकृतिक न होकर हमारे द्वारा ही खड़ी की गई हैं। ये दीवारें रंग-भेद, वर्ण-भेद, जाति-भेद, कुल-भेद, देश व प्रान्त-भेद आदि की हैं।

धार्मिक जड़ता और आर्थिक अपव्यय रोकने के लिए महावीर ने क्रियाकाण्ड और यज्ञों का विरोध किया। आदमी को आदमी के निकट लाने के लिए वर्ण-व्यवस्था को कर्म के आधार पर बताया। जीवन के जीने के लिए अनेकान्त की भावभूमि, स्याद्वाद की भाषा और अणुव्रत का आचार-व्यवहार दिया और मानव-व्यक्तित्व के चरम विकास के लिए कहा कि ईश्वर तुम्हीं हो, अपने आपको पहिचानो और ईश्वरीय गुणों का विकास कर ईश्वरत्व को पाओ।

तीर्थंकर महावीर ने जिस सर्वोदय तीर्थ का प्रणयन किया, उसके जिस धर्मतत्त्व को लोक के सामने रखा; उसमें न जाति की सीमा है, न क्षेत्र की ओर न काल की; न रंग, वर्ण, लिंग आदि की। धर्म में संकीर्णता और सीमा नहीं होती।

अनेकान्तात्मक विचार, स्याद्वादरूप वाणी, अहिंसात्मक आचार एवं अपरिग्रही या सीमित परिग्रही जीवन – ये चार महान सिद्धान्त तीर्थंकर महावीर की धार्मिक सहिष्णुता के प्रबल प्रमाण हैं।

तीर्थंकर भगवान महावीर ने प्रत्येक वस्तु की पूर्ण स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है और यह भी स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है। उसके परिणमन में पर-पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है। यहाँ तक कि परमपिता परमेश्वर (भगवान्) भी उसकी सत्ता का कर्ता-हर्ता नहीं है।

जन-जन की ही नहीं, अपितु कण-कण की स्वतंत्र सत्ता की उद्घोषणा तीर्थंकर महावीर की वाणी में हुई। दूसरों के परिणमन या कार्य में हस्तक्षेप करने की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दुःख का कारण है; क्योंकि सब जीवों का जीवन-मरण, सुख-दुःख स्वयंकृत व स्वयंकृत कर्म का फल है। एक को दूसरे के दुःख-सुख, जीवन-मरण का कर्ता मानना अज्ञान है।

उन्होंने व्यक्तिस्वातंत्र्य और विचारों की स्वतंत्रता पर सर्वत्र जोर दिया है। वे अपने पीछे अन्धविश्वासियों की भीड़ इकट्ठी कर पोपड़म का प्रचार नहीं करना चाहते थे। उन्होंने तो विचारकों को चिन्तन की नई दिशा दी है। उन्होंने स्पष्ट कहा –

“जो मैं कहता हूँ, उसे तर्क की कसौटी पर कसकर और अनुभूति से आत्मसात् करके ही स्वीकार करो, अन्यथा यह सत्य तुम्हारा न बन पायेगा। आगमप्रमाणरूप चाबुक की मार से, तर्कों के प्रबल प्रहार से और मेरे अद्भुत व्यक्तित्व के प्रभाव से जो मैंने कहा उसे यदि ऊपर से स्वीकार भी कर लिया तो कोई लाभ नहीं होगा। वह तो एक नये अन्धविश्वास और पोपड़म को ही जन्म देगा।”

इसप्रकार उनका उपदेश सार्वभौमिक और विश्व-शांति की ओर ले जाने वाला है।

यदि आज महावीर के सर्वोदयी अनेकान्तात्मक विचार, सब पक्षों को अपने में समाहित कर लेने वाली स्याद्वाद वाणी, अहिंसायुक्त आचरण और सीमित-संग्रह से युक्त जीवनवृत्ति हमारे सामाजिक जीवन का आधार व अंग बन जाए तो हमारी बहुत कुछ समस्याएँ सहज सुलझ सकती हैं। हम आत्म-शान्ति के साथ-साथ विश्व-शान्ति की दिशा में भी सहज ही अग्रसर हो सकते हैं।

अन्त में 72 वर्ष की आयु में दीपावली के दिन इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने भौतिक देह को त्याग कर निर्वाण प्राप्त किया। उसी दिन उनके प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम को पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हुई।

जैन मान्यतानुसार दीपावली महापर्व भगवान के महावीर के निर्वाण एवं उनके प्रमुख शिष्य गौतम को पूर्णज्ञान की प्राप्ति के उपलक्ष्य में ही मनाया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर का जीवन नर से नारायण बनने एवं आत्मा के क्रमिक पूर्ण विकास की कहानी है। ●

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनन्त क्रोध है। जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है। अपनी आत्मा को क्षमा करने और क्षमा माँगने का मात्र आशय यही है कि हम उसे जानें, पहिचानें और उसी में रम जायें। स्वयं को क्षमा करने और स्वयं से क्षमा माँगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। निश्चयक्षमावाणी तो स्वयं के प्रति सजग हो जाना ही है। उसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती तथा आत्मा के आश्रय से क्रोधादिकषायों के उपशान्त हो जाने से व्यवहारक्षमावाणी भी सहज ही प्रस्फुटित होती है।

हृ धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१८५

भगवान महावीर और उनकी उपासना

जो पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ पद को प्राप्त करता है; वह भगवान (परमात्मा) कहलाता है। अरहंत और सिद्ध ही ऐसे पद हैं। अतः उक्त पदों को प्राप्त पुरुष ही परमात्मा (भगवान) शब्द से अभिहित किये जाते हैं। अरहंतों में तीर्थंकर अरहंत और सामान्य अरहन्त ऐसे दो प्रकार होते हैं। वर्तमान काल में धर्मतीर्थ के प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर अरहंत भगवान महावीर थे।

भगवान महावीर के अनुसार परमात्मा पर का कर्ता-धर्ता न होकर मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है तथा परमात्मा के उपासक (भक्त) की दृष्टि (मान्यता) में पर में कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती। जबतक पर में फेरफार करने की बुद्धि (रुचि) रहेगी; तबतक उसकी दृष्टि को सम्यक् दृष्टि नहीं कहा जा सकता है।

वीतरागी परमात्मा का उपासक (भक्त) भी वीतरागता का ही उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी भगवान महावीर का उपासक नहीं हो सकता।

वह तो मात्र पंथव्यामोह से ही महावीर की उपासना करता है; वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का ही उपासक है।

भगवान का सच्चा स्वरूप न समझ पाने के कारण आज की उपासना में अनेक विकृतियाँ आ गई हैं। अब हम मूर्तियों में वीतरागता न देखकर चमत्कार देखने लगे हैं और चमत्कार को नमस्कार की लोकोक्ति के अनुसार जिस मूर्ति और जिस मन्दिर के साथ चमत्कारिक कथायें जुड़ी पाते हैं; उन मूर्तियों के समक्ष और उन मन्दिरों में भक्तों की भीड़ अधिकाधिक दिखाई देती है। जिनके साथ लौकिक समृद्धि, संतानादि की प्राप्ति की कल्पनायें प्रसारित हैं; वहाँ तो खड़े होने को स्थान तक नहीं मिलता और शेष मन्दिर खंडहर होते जा रहे हैं; वहाँ की मूर्तियों की धूल साफ करने वाला भी दिखाई नहीं देता।

एक भगवान महावीर की हजारों मूर्तियाँ हैं और उन सब मूर्तियों के माध्यम से हम महावीर की पूजा करते हैं। पृथक्-पृथक् मन्दिरों में पृथक्-पृथक् मूर्तियों के माध्यम से पूजे जाने वाले महावीर पृथक्-पृथक् नहीं हैं, वरन् एक हैं। भगवान महावीर अपनी वीतरागता एवं सर्वज्ञता के कारण पूज्य हैं; कोई लौकिक चमत्कारों और संतान, धनादि देने के कारण नहीं।

जो महान् आत्मा स्वयं धनादि और घरबार छोड़कर आत्मसाधना-रत हुआ हो; उससे ही धनादिक की चाह करना कितना हास्यास्पद है! उनको भोगादि का देने वाला कहना, उनकी वीतरागता की मूर्ति को खंडित करना है।

एक तो महावीर प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते नहीं हैं और न अप्रसन्न होकर किसी का बिगाड़ ही करते हैं, दूसरे यदि भोले जीवों की कल्पनानुसार उन्हें सुख-दुःख देने-लेने वाला भी मान लिया जाय तो भी यह समझ में नहीं आता कि वे अपनी अमुक मूर्ति की पूजा के माध्यम से ही कुछ देते हों, अन्य की पूजा के माध्यम से नहीं। यदि यह कहा जाय कि वे तो कुछ नहीं देते पर उनके उपासक को सहज ही पुण्य-बंध होता है तो क्या अमुक मूर्ति के सामने पूजा करने से या अमुक मन्दिर में घृतादिक के दीपक रखने से ही पुण्य बंधेगा, अन्य मन्दिरों में या अन्य मूर्तियों के सामने नहीं?

उक्त प्रवृत्ति के कारण हमारी दृष्टि, मूर्ति के माध्यम से जिसकी पूजा की जाती है, उस महावीर से हटकर मात्र मूर्ति पर केन्द्रित हो गई है और हम यह भूलते जा रहे हैं कि वस्तुतः हम मूर्ति के नहीं, मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान (वीतरागी सर्वज्ञ भगवान) के पुजारी हैं।

यह सब क्यों और कैसे हुआ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। जब ज्ञान की अपेक्षा क्रियाकांड को मुख्यता दी जाने लगती है; तब इसप्रकार की प्रक्रिया उत्पन्न होने लगती है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने चारित्र को सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही कहा है। अज्ञानपूर्वक की गई कोई भी प्रक्रिया धर्म नहीं कहला सकती।

कहा भी है ह

“बहुविध क्रिया कलेश सों, शिव पद लहें न कोय ।
ज्ञान कला परकाश तें, सहज मोक्ष पद होय ॥^१
घने सुन्न जो दीजिये, एक अंक नहीं होय ।
त्यो किरिया बिन ज्ञान के, थोथी जानो सोय ॥

भगवान की सही रूप में पहिचाने बिना, उनकी उपासना सही अर्थों में नहीं की जा सकती है। अतः सबसे पहिले उपासक को परमात्मा (भगवान) का स्वरूप अच्छी प्रकार समझना चाहिये।

परमात्मा वीतरागी एवं पूर्ण ज्ञानी होता है। अतः उसका उपासक भी पूर्णज्ञान एवं वीतरागता का उपासक होना चाहिये। विषय-कषाय का अभिलाषी व्यक्ति वीतरागी भगवान का उपासक हो ही नहीं सकता।

कहाँ तो हम प्रतिदिन बोलते हैं ह

“इन्द्रादिक पद नहिं चाहूँ, विषयनि में नहिं लुभाऊँ ।
रागादिक दोष हरीजै, परमात्म निज पद दीजै ॥^२”

और कहाँ विषयादिक की कामना पूर्ति हेतु उपासना करें ह यह कहाँ तक तर्कसंगत है?

“गुणेषु अनुरागः भक्तिः ह्य गुणों में अनुराग को भक्ति कहते हैं ॥”
जबतक हम परमात्मा के गुणों को पहिचानेंगे नहीं, उनके अभिलाषी कैसे होंगे, उनके प्रति हमारा अनुराग भी कैसे होगा? परमात्मा का सच्चा भक्त सिर्फ परमात्मपद चाहता है, अन्यत्र उसकी रुचि नहीं होती।

अतः हमें भगवान के उपासक कहलाने के पूर्व एक बार अपनी उपासना प्रवृत्ति की स्थिति पर विचार करना होगा और कारणवश आई हुई इन कुप्रवृत्तियों को अपनी उपासनापद्धति से अलग करना होगा।

यदि हम सामाजिक स्तर पर उन वीतरागता विरोधी प्रवृत्तियों को नहीं हटा सकते तो इनसे अपने आपको तो बचा ही सकते हैं।

१. समयसार नाटक, निर्जरा द्वार, छन्द २६

२. आलोचना पाठ, छन्द ३३

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि भगवान की भक्ति से क्या लौकिक सुख भी नहीं मिलता है?

बात यह है कि वीतरागता के उपासक ज्ञानी भक्त की लौकिक सुख में रुचि ही नहीं होती, पर शुभभाव होने से पुण्य बंध अवश्य होता है और तदनुकूल सुख (भोग) सामग्री भी प्राप्त होती है, पर भगवान महावीर के उपासक की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं तथा विषयाभिलाषा से की गई भगवान की भक्ति, राग की तीव्रता और भोगों की अभिलाषा से युक्त होने से पुण्य बंध का कारण भी नहीं होती; क्योंकि भोगाभिलाषा एवं रागभाव तो पापभाव हैं।

उक्त सम्पूर्ण बात कहने से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि आप भगवान महावीर की उपासना करना ही छोड़ दें; बल्कि मैं चाहता हूँ कि आप भगवान महावीर के सच्चे अर्थों में उपासक बनें, उनके स्वरूप को समझें व उनकी उपासना के हेतु को समझकर सही रूप दें।

जब वीतरागता और आत्मज्ञान की पूर्णता ही हमारा प्राप्तव्य बनेगा; तभी हम वीतरागी, सर्वज्ञ भगवान महावीर के सच्चे उपासक कहलाने के अधिकारी होंगे। ●

विश्वविख्यात समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो निज भगवान आत्मा की आराधना को धर्म कहता है; स्वयं के दर्शन को सम्यग्दर्शन, स्वयं के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और स्वयं के ध्यान को सम्यक्चारित्र कहकर इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही वास्तविक धर्म घोषित करता है।

ईश्वर की गुलामी से भी मुक्त करने वाला अनन्त स्वतंत्रता का उद्घोषक यह दर्शन प्रत्येक आत्मा को सर्वप्रभुतासम्पन्न परमात्मा घोषित करता है और उस परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय भी स्वावलम्बन को ही बताता है।

— बारहभावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ १६५

व्यावहारिक जीवन में महावीर के आदर्श

हवा, पानी और भोजन आदि का जो महत्व हमारे जीवन में है; उससे कम धर्म, धार्मिक आस्था और धार्मिक आदर्शों का नहीं है; किन्तु हम हवा, पानी और भोजन आदि की जितनी आवश्यकता और उपयोगिता अनुभव करते हैं, उतनी धर्म और धार्मिक आदर्शों की नहीं।

समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं, तदर्थ निरन्तर प्रयत्न भी करते हैं; किन्तु वास्तविक सुख क्या है और सुखी होने का सच्चा मार्ग क्या है? यह न जानने के कारण उनके प्रयत्न सफल नहीं हो पाते।

हवा, पानी और भोजन आदि से भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो कर सकते हैं; किन्तु दुःख के कारण भौतिक जगत में नहीं, मानसिक जगत में विद्यमान हैं। जब तक अन्तर में मोह-राग-द्वेष की ज्वाला जलती रहेगी; तब तक पूर्ण सुखी होना संभव नहीं है। मोह-राग-द्वेष की ज्वाला शान्त हो – इसके लिए धर्म, धार्मिक आस्था और धार्मिक आदर्शों से अनुप्रेरित जीवन का होना अत्यन्त आवश्यक है।

धार्मिक आदर्श भी तो ऐसे होने चाहिए जिनका संबंध जीवन की वास्तविकताओं से हो। जो आदर्श व्यावहारिक जीवन में सफलतापूर्वक न उतर सकें, जिनका सफल प्रयोग दैनिक जीवन में संभव न हो, वे आदर्श कल्पनालोक के सुनहरे स्वप्न तो हो सकते हैं; किन्तु जीवन में उनकी उपयोगिता और उपादेयता संदिग्ध ही रहेगी।

व्यावहारिक जीवन की कसौटी पर जब हम तीर्थंकर भगवान महावीर के आदर्शों को कसते हैं तो वे पूर्णतः खरे उतरते हैं। हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि उनके आदर्श कल्पनालोक की ऊँची उड़ानें नहीं, वे ठोस

धरातल पर प्रयोगसिद्ध सिद्धांत हैं और उनका पालन व्यावहारिक जीवन में मात्र संभव ही नहीं; वे जीवन को सुखी, शान्त और समृद्ध बनाने के लिए पूर्ण सफल एवं सहज साधन हैं।

जीवन को पवित्र, सच्चरित्र एवं सुखी बनाने के लिए तीर्थंकर महावीर ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये पाँच महान् आदर्श लोक के सामने रखे।

व्यावहारिक जीवन में इनके सफल प्रयोग के लिए उन्होंने इन्हें साधु और सामान्यजनों (श्रावकों) को लक्ष्य में रखकर महाव्रत और अणुव्रत के रूप में प्रस्तुत किया। उक्त आदर्शों को पूर्ण रूप से जीवन में उतारने वाले साधु एवं शक्ति व योग्यतानुसार धारण करने वाले श्रावक कहलाते हैं। शक्ति और योग्यता के वैविध्य को लक्ष्य में रखकर श्रावकों की ग्यारह कक्षाएँ निश्चित की गई हैं, जिन्हें ग्यारह प्रतिमायें कहा जाता है।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित महान् आदर्श – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर यह आक्षेप किया जाता है कि वे इतने सूक्ष्म एवं कठोर हैं कि उनका प्रयोग व्यावहारिक जीवन में संभव नहीं है।

यद्यपि यह सत्य है कि भगवान महावीर ने हिंसादि पापों के रंचमात्र भी सद्भाव को श्रेयस्कर नहीं माना है; तथापि उनको जीवन में उतारने के लिए अनेक स्तरों का प्रतिपादन किया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें जीवन में अपनाना संभव ही नहीं, वरन् प्रयोगसिद्ध है।

जहाँ साधु का जीवन पूर्ण अहिंसक एवं अपरिग्रही होता है; वहीं श्रावकों के जीवन में योग्यतानुसार सीमित परिग्रह का ग्रहण होता है तथा जहाँ गृहस्थ बिना प्रयोजन चींटी तक का वध नहीं करता है; वहीं देश, समाज, घर-बार, माँ-बहिन, धर्म और धर्मायतन की रक्षा के लिए तलवार उठाने में भी संकोच नहीं करता।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर के भूमिकानुसार आचरण एवं अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण को समझे बिना ही उक्त आक्षेप किया जाता है। जैनाचरण के व्यावहारिक पक्ष को सैद्धान्तिक रूप में चरणानुयोग के शास्त्रों से एवं प्रयोगात्मक रूप में जैनपुराणों के अनुशीलन से भली-भाँति जाना जा सकता है।

हिंसादि पापों के त्याग की प्रक्रिया भगवान महावीर के शासन में सप्रयोजन है। जैसे हिंसा चार प्रकार की कही गई है – (1) संकल्पी हिंसा, (2) उद्योगी हिंसा, (3) आरम्भी हिंसा और (4) विरोधी हिंसा।

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु हैं जिसमें, ऐसे संकल्प (इरादा) पूर्वक किया गया प्राणघात संकल्पी हिंसा है। व्यापार आदि कार्यों में तथा गृहस्थी के आरम्भादि कार्यों में सावधानी बरतते हुए भी जो हिंसा हो जाती है; वह क्रमशः उद्योगी और आरंभी हिंसा है। अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन, समाज-देशादि पर किये गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है।

उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में एक संकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है; किन्तु बाकी तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती हैं। यद्यपि वह उनसे भी बचने का पूरा-पूरा यत्न करता है, आरंभ और उद्योग में भी पूरी-पूरी सावधानी रखता है; तथापि उसका आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णरूपेण बच पाना संभव नहीं है। यद्यपि उक्त हिंसा उसके जीवन में विद्यमान रहती है; तथापि वह उसे उपादेय नहीं मानता, विधेय भी नहीं मानता।

भगवान महावीर ने सदा ही अहिंसात्मक आचरण पर जोर दिया है। जैन आचरण छुआछूतमूलक न होकर जिसमें हिंसा न हो या कम से कम हिंसा हो, के आधार पर निश्चित किया गया है। पानी छानकर काम में लेना, रात्रि में भोजन नहीं करना, मद्य-मांसादि का सेवन नहीं करना आदि समस्त आचरण अहिंसा को लक्ष्य में रखकर अपनाए गए हैं।

भगवान महावीर ने अहिंसा को परमधर्म घोषित किया है। सामाजिक जीवन में विषमता रहते अहिंसा नहीं पनप सकती; अतः अहिंसा के सामाजिक प्रयोग के लिए जीवन में समन्वयवृत्ति, सह-अस्तित्व की भावना एवं सहिष्णुता अति आवश्यक है। उन्होंने जन-साधारण में संभावित शारीरिक हिंसा को कम करने के लिए सह-अस्तित्व, सहिष्णुता और समताभाव पर जोर दिया तो वैचारिक हिंसा से बचने के लिए अनेकांत का समन्वयात्मक दृष्टिकोण भी प्रदान किया।

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उक्त पाँच महान आदर्श यदि हम शक्ति और योग्यतानुसार अपने जीवन में उतार लें, उन्हें व्यावहारिक रूप में अपना लें तो निश्चित रूप से विश्वशांति की दिशा में अग्रसर होंगे। ●

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार दो अलग-अलग चीजें हैं। सत्य की प्राप्ति के लिये समस्त जगत से कटकर रहना आवश्यक है। इसके विपरीत सत्य के प्रचार के लिए जन-सम्पर्क जरूरी है।

सत्य की प्राप्ति व्यक्तिगत क्रिया है और सत्य का प्रचार सामाजिक प्रक्रिया। सत्य की प्राप्ति के लिए अपने में सिमटना जरूरी है और सत्य के प्रचार के लिए जन-जन तक पहुँचना।

साधक की भूमिका और व्यक्तित्व द्वैध होते हैं। जहाँ एक ओर वे आत्म-तत्व की प्राप्ति और तल्लीनता के लिए अन्तरोन्मुखी वृत्ति वाले होते हैं, वही प्राप्त सत्य को जन-जन तक पहुँचाने के विकल्प से भी वे अलिप्त नहीं रह पाते हैं।

उनके व्यक्तित्व की यह द्विविधता जन सामान्य की समझ में सहज नहीं आ पाती। यही कारण है कि कभी-कभी वे उनके प्रति शंकाशील हो उठते हैं।

यद्यपि उनकी इस शंका का सही समाधान तो तभी होगा, जबकि वे स्वयं उक्त स्थिति को प्राप्त होंगे; तथापि साधक का जीवन इतना सात्विक होता है कि जगत-जन की वह शंका अविश्वास का स्थान नहीं ले पाती।

– सत्य की खोज, पृष्ठ १३५

धार्मिक सहिष्णुता और तीर्थंकर महावीर

सह-अस्तित्व की पहली शर्त है सहिष्णुता। सहिष्णुता के बिना सह-अस्तित्व संभव नहीं है। संसार में अनन्त प्राणी हैं और उन्हें इस लोक में साथ-साथ ही रहना है। यदि हम सबने एक-दूसरे के अस्तित्व को चुनौती दिये बिना रहना नहीं सीखा तो हमें निरन्तर अस्तित्व के संघर्ष में जुटे रहना होगा।

संघर्ष अशान्ति का कारण है और उसमें हिंसा अनिवार्य है। हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। इसप्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा का कभी समाप्त न होनेवाला चक्र चलता रहता है। यदि हम शान्ति से रहना चाहते हैं तो हमें दूसरों के अस्तित्व के प्रति सहनशील बनना होगा।

सहनशीलता सहिष्णुता का ही पर्यायवाची शब्द है।

तीर्थंकर भगवान महावीर ने प्रत्येक वस्तु की पूर्ण स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है और यह भी स्पष्ट किया है कि प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणामनशील है; उसके परिणामन में परपदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है। यहाँ तक कि परमपिता परमेश्वर भी उसकी सत्ता का कर्ता-हर्ता नहीं है। जन-जन की ही नहीं, अपितु कण-कण की स्वतंत्र सत्ता की उद्घोषणा तीर्थंकर महावीर की वाणी में हुई।

दूसरों के परिणामन या कार्य में हस्तक्षेप करने की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दुःख का कारण है; क्योंकि सब जीवों का जीवन-मरण, सुख-दुःख, स्वयंकृत व स्वयंकृत कर्म का फल हैं। एक को दूसरे के दुःख-सुख, जीवन-मरण का कर्ता मानना अज्ञान है, सो ही कहा है –

सर्व सदैव नियतं भवति स्वकीय,

कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।

अज्ञानमैतदिह यत्तु परः परस्य,

कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।।^१

१. समयसार : आत्मख्याति टीका का १६८वाँ छन्द

सब जीवों के जीवन-मरण और सुख-दुःख अपने-अपने कर्मोदयानुसार स्वयं के द्वारा किये गये और सुनिश्चित होते हैं। इसकारण यह मानना अज्ञान ही है कि कोई किसी के जीवन-मरण और सुख-दुःख को करता है।

यदि एक प्राणी को दूसरे के सुख-दुःख और जीवन-मरण का कर्ता माना जाये तो फिर स्वयंकृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होंगे; क्योंकि प्रश्न यह है कि हम बुरे कर्म करें और कोई दूसरा व्यक्ति चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, क्या हमें सुखी कर सकता है? इसीप्रकार हम अच्छे कार्य करें और कोई व्यक्ति चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, क्या हमारा बुरा कर सकता है? यदि हाँ, तो फिर अच्छे कार्य करना और बुरे कार्यों से डरना व्यर्थ हैं; क्योंकि उनके फल को भोगना आवश्यक तो है नहीं? और यदि यह सही है कि हमें अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना ही होगा तो फिर पर के हस्तक्षेप की कल्पना निरर्थक है।

इसी बात को आचार्य अमितगति ने सामायिक पाठ में इसप्रकार व्यक्त किया है –

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,

फलं तदीयं लभते शुभाशुभं।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,

स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,

न कोपि कस्यापि ददाति किंचन।

विचारयन्नेवमनन्य मानसः,

परो ददातीति विमुच्य शेमुषीं॥

आत्मा के द्वारा पूर्वकृत शुभाशुभकर्मों का फल ही प्राप्त किया जाता है। यदि फल पर के द्वारा दिया जाता है – यह माना जाय तो स्वयंकृत कर्म निरर्थक ही सिद्ध होंगे।

वस्तुतः बात यह है कि स्वयं के द्वारा उपार्जित कर्मों को छोड़कर

कोई भी कुछ नहीं देता। अनन्यमन से ऐसा विचार करके कोई किसी को कुछ देता है – ऐसी बुद्धि (मान्यता) छोड़ दो।

अतः सिद्ध है कि किसी भी द्रव्य में पर का हस्तक्षेप नहीं चलता। हस्तक्षेप की भावना ही आक्रमण को प्रोत्साहित करती है। यदि हम अपने मन से पर में हस्तक्षेप करने की भावना निकाल दें तो फिर हमारे मानस में सहज ही अनाक्रमण का भाव जग जायेगा।

आक्रमण-प्रत्याक्रमण को जन्म देता है। यह आक्रमण-प्रत्याक्रमण की स्थिति ऐसे युद्ध को प्रोत्साहित कर सकती है, जिससे मात्र विश्वशान्ति ही खतरे में न पड़ जाये, अपितु विश्व प्रलय की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

अतः विश्व शान्ति की कामना करने वालों को तीर्थंकर महावीर द्वारा बताये गये अहस्तक्षेप, अनाक्रमण और सहअस्तित्व के मार्ग पर चलना आवश्यक है, इसमें ही सबका हित निहित है।

आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर के धर्मतीर्थ को सर्वोदय तीर्थ कहा है; जो इसप्रकार है –

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्पम्,
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तम्,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥^१

आपकी वाणीरूप तीर्थ सभी आपदाओं का अन्त करनेवाला है, किसी के द्वारा खण्डित नहीं किया जा सकता; इसकारण अखण्डित है, अनन्त धर्मयुगलों में मुख्य-गौण की कल्पना से विरोध से रहित है और सभी का उदय (कल्याण) करनेवाला होने से सर्वोदयी है।

धर्म के सर्वोदय स्वरूप का तात्पर्य सर्व जीव समभाव, सर्व धर्म समभाव और सर्व जाति समभाव से है। सबका उदय ही सर्वोदय है। अर्थात् सब जीवों की उन्नति के समान अवसरों की उपलब्धि ही सर्वोदय है। दूसरों का बुरा चाहकर कोई अपना भला नहीं कर सकता है।

१. युक्त्यनुशासन, श्लोक ६१

आज हमने मानव मानव के बीच अनेक दीवारें खड़ी करली हैं। ये दीवारें प्राकृतिक न होकर हमारे ही द्वारा खड़ी की गई हैं। ये दीवारें रंग-भेद, वर्ण-भेद, जाति-भेद, कुल-भेद, देश व प्रान्त-भेद आदि की हैं। यही कारण है कि आज सारे विश्व में एक तनाव का वातावरण है। एक देश दूसरा देश से शंकित है और एक प्रान्त दूसरे प्रान्त से।

यहाँ तक कि मानव-मानव की ही नहीं, एक प्राणी दूसरे प्राणी की इच्छा और आकांक्षाओं को अविश्वास की दृष्टि से देखता है; भले ही वे परस्पर एक दूसरे से पूर्णतः असंपृक्त ही क्यों न हों, पर एक दूसरे के लक्ष्य से एक विशेष प्रकार का तनाव लेकर जी रहे हैं। तनाव से सारे विश्व का वातावरण एक घुटन का वातावरण बन रहा है।

वास्तविक धर्म वह है, जो इस तनाव को व घुटन को समाप्त करे या कम करे। तनावों से वातावरण विषाक्त बनता है और विषाक्त वातावरण मानसिक शान्ति भंग कर देता है। तीर्थंकर महावीर की पूर्वकालीन एवं समकालीन परिस्थितियाँ भी सब कुछ मिलाकर इसीप्रकार की थीं।

तीर्थंकर महावीर के मानस में आत्मकल्याण के साथ-साथ विश्व-कल्याण की प्रेरणा भी थी और इसी प्रेरणा ने उन्हें तीर्थंकर बनाया।

उनका सर्वोदय तीर्थ आज भी उतना ही ग्राह्य, ताजा और प्रेरणास्पद है; जितना उनके समय में था। उनके तीर्थ में न संकीर्णता थी और न मानवकृत सीमार्ये। जीवन की जिस धारा को वे मानव के लिए प्रवाहित करना चाहते थे, वही वस्तुतः सनातन सत्य है।

धार्मिक जड़ता और आर्थिक अपव्यय रोकने के लिए महावीर ने क्रियाकाण्ड और यज्ञों का विरोध किया। आदमी को आदमी के निकट लाने के लिए वर्णव्यवस्था को कर्म के आधार पर बताया। जीवन जीने के लिए अनेकान्त की भावभूमि, स्याद्वाद की भाषा और अणुव्रत का आचार-व्यवहार दिया और मानव व्यक्तित्व के चरम विकास के लिए कहा कि ईश्वर तुम्हीं हो, अपने आपको पहिचानों और ईश्वरीय गुणों का विकास कर ईश्वरत्व को पाओ।

तीर्थंकर महावीर ने जिस सर्वोदय का प्रणयन किया, उसके जिस धर्म तत्त्व को लोक के सामने रखा; उसमें न जाति की सीमा है, न क्षेत्र की और न काल की; न रंग, वर्ण, लिंग आदि की। धर्म में संकीर्णता और सीमा नहीं होती। आत्मधर्म सभी आत्माओं के लिए है। धर्म को मात्र मानव से जोड़ना भी एक प्रकार की संकीर्णता है। वह तो प्राणीमात्र का धर्म है। 'मानव धर्म' शब्द भी पूर्ण उदारता का सूचक नहीं है। वह भी धर्म के क्षेत्र को मानव समाज तक ही सीमित करता है, जबकि धर्म का सम्बन्ध समस्त प्राणी जगत से है; क्योंकि सभी प्राणी सुख और शान्ति से रहना चाहते हैं।

धर्म का सर्वोदय स्वरूप तबतक प्राप्त नहीं हो सकता, जबतक कि आग्रह समाप्त नहीं हो जाता; क्योंकि आग्रह विग्रह पैदा करता है, प्राणी को असहिष्णु बना देता है। धार्मिक असहिष्णुता से भी विश्व में बहुत कलह व रक्तपात हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है। जब-जब धार्मिक आग्रह सहिष्णुता की सीमा को लांघ जाता है; तब-तब वह अपने प्रचार व प्रसार के लिये हिंसा का आश्रय लेने लगता है।

धर्म का यह दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि उसके नाम पर रक्तपात हुए और वह भी उक्त रक्तपात के कारण विश्व में घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। इसप्रकार जिस धर्म तत्त्व के प्रचार के लिए हिंसा अपनाई गई, वही हिंसा उसके हास का कारण बनी। किसी का मन तलवार की धार से नहीं पलटा जा सकता। अज्ञान ज्ञान से कटता है, उसे हमने तलवार से काटने का यत्न किया। विश्व में नास्तिकता के प्रचार में इसका बहुत बड़ा हाथ है।

भगवान महावीर ने उक्त तथ्य को भलीप्रकार समझा था। अतः उन्होंने साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता पर भी पूरा-पूरा जोर दिया एवं विचार को अनेकान्तात्मक, भाषा को स्याद्वादरूप, आचार को अहिंसात्मक एवं जीवन को अपरिग्रही बनाने का उपदेश दिया।

अनेकान्तात्मक विचार, स्याद्वादरूप वाणी, अहिंसात्मक आचार एवं अपरिग्रही या सीमित परिग्रही जीवन – ये चार महान सिद्धान्त तीर्थंकर महावीर की धार्मिक सहिष्णुता के प्रबल प्रमाण हैं। ●